समर्पण

श्रीमाँ एवं श्री अरविंद के शब्दों में से चयनित...

अपने जीवन का उत्तरदायित्व भगवान् को सौंप देने का निश्चय समर्पण है। इस निश्चय के बिना कुछ भी संभव नहीं है। अगर तुम समर्पण न करो तो योग का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बाकी सब चीज़े स्वभावतः उसके बाद आती है, सारी प्रकिया समर्पण से आरंभ होती है।

- श्रीमां

SURRENDER

O Thou of whom I am the instrument,
O secret Spirit and Nature housed in me,
Let all my mortal being now be blent
In Thy still glory of divinity.

I have given my mind to be dug Thy channel mind,
I have offered up my will to be Thy will:
Let nothing of myself be left behind
In our union mystic and unutterable.

My heart shall throb with the world-beats of Thy love,
My body become Thy engine for earth-use;
In my nerves and veins Thy rapture's streams shall move;
My thoughts shall be hounds of Light for Thy power to loose.

Keep only my soul to adore eternally
And meet Thee in each form and soul of Thee.

- Sri Aurobindo

राधा अनन्य भगवत्प्रेम की प्रतिमा हैं - ऐसा अनन्य भगवत्प्रेम जो प्रेमी के ऊर्ध्वतम आध्यात्मिक सत्ता से लेकर शरीर सत्ता तक सर्वांग में परिपूर्ण और अखंड हो, जिसमें कि निरपेक्ष आत्मदान और पूर्ण समर्पण हो और जो शरीर में तथा अत्यंत जड़ प्रकृति में परमानन्द भर दे।

- श्रीअरविन्द

राधा की प्रार्थना

हे भगवान् हमारे स्वामी मनुजरूप जगदीश्वर,
प्रथम दृष्टि में ही जिसको जाना मैंने निज प्रभुवर;
जो कुछ भी मेरा अपना अशेष आगे धरती हूं,
शीश झुकाकर चरणों में तुझको प्रणाम करती हूं।
लिये आप अपने को मैं कर रही वंदना तेरी,
हे भगवान् सनातन कर स्वीकार अर्चना मेरी,
मेरी देह और प्राण मन के जो तत्त्व हमारे,
हैं उत्सर्ग निवेदित पूजा के ये फूल तुम्हारे।
मेरी भाव-भावनाओं का प्रतिफल कम्पन,
और मनोमय पट पर बिम्बित जो विचार जो चिन्तन;
मेरे तन का कोष कोष प्रतिकण जो मेरा शोणित,
हे भगवान् तुम्हारे चरणों में सर्वथा समर्पित।
मैं तेरी संकल्प मूर्ति तुझसे जो मुझे मिलेगा,
सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, मरण भी अथवा जीवन होगा,
मंगलमय प्रसाद तेरा आनन्दित शीश धरूंगी,
चाहेगा जिस तरह नाथ मैं वैसी सदा रहूंगी।
तेरी इच्छा का झंकृत प्रतिपल अखंड संगीत,
मेरा जीवन छंद प्रवाहित होगा मधुमय गीत।

- श्रीमाँ

योग-साधना के दो मार्ग

योग साधना के दो मार्ग हैं, एक है तपस्या का और दूसरा है समर्पण का। तपस्या का मार्ग कठोर है, इस मार्ग में तुम सर्वथा अपने ऊपर ही निर्भर रहते हो, अपने निजी सामर्थ्य से ही आगे बढ़ते हो। तुम अपनी शक्ति के परिणाम में ही ऊँचे उठते हो और उसी के अनुसार फल पाते हो। इस मार्ग में नीचे गिरने का भय हमेशा लगा रहता है। और एक बार गिरे तो तुम गहरी खाई में जाकर चूर-चूर हो जाओगे और इसका इलाज शायद ही हो सके। परंतु दूसरा मार्ग, समर्पण का मार्ग, निरापद और निश्चित है। दूसरे शब्दों में, जैसा श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि तुम बंदर के बच्चे और बिल्ली के बच्चे, इन दो में से किसी एक मार्ग का अनुसरण कर सकते हो। बंदर के बच्चे को इधर-उधर ले जाये जाने के लिये अपनी माँ की छाती से चिपक जाना पड़ता है, उसे अपनी माँ को कस कर पकड़े रहना पड़ता है और यदि कहीं उसकी मुट्ठी ढीली हो जाये तो वह गिर जाता है। दूसरी ओर, बिल्ली का बच्चा अपनी माँ को नहीं पकड़ता, बल्कि माँ ही उसे पकड़े रखती है, इसलिये न उसे कोई भय होता है न उसका कोई उत्तरदायित्व; उसे तो केवल इतना ही करना पड़ता है कि अपनी माता की पकड़ में आ जाये और ''माँ-माँ'' करता रहे।

❁

स्मर्पण का क्या अर्थ है ?

समर्पण का अर्थ है अपने-आपको भगवान् के हाथो में सौंप देना - मनुष्य जो कुछ है या उसके पास जो कुछ है सब भगवान् को दे देना और किसी चीज को अपना निजी न समझना, अन्य किसी की इच्छा का नहीं, केवल भगवान् की इच्छा का अनुसरण करना, अहंकार के लिये नहीं बल्कि भगवान् के लिये जीवन यापन करना। .... इसका अर्थ है कि मनुष्य अपने-आपको पूर्ण रूप से भगवान् को दे दे। हां, पर फिर क्या होता है ? यदि तुम पूर्ण रूप से अपने-आपको भगवान् के हाथों में दे दो तो फिर भगवान् ही योग करते हैं, तब तुम नहीं करते; इसलिये वह बहुत कठिन नहीं होता। परंतु, यदि तुम तपस्या करते हो, तो तुम स्वयं योग करते हो और सारी जिम्मेदारी तुम्हारे ऊपर होती है - बस, यही है ''खतरा''। परंतु ऐसे लोग होते हैं जो पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर रखना चाहते हैं और उसके खतरों को भी उठाते हैं, क्योंकि वे बहुत स्वतंत्र प्रकृति के होते है। संभवतः उन्हें बहुत शीघ्रता नहीं होती - यदि सफलता पानें में कई जन्म भी लग जायं तो इससे उनका कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। परंतु कुछ दूसरे लोग ऐसे होते हैं जो बहुत शीघ्र पहुंचना चाहते हैं तथा लक्ष्य तक पहुंचने के विषय में अधिक निःसंशय होना चाहते हैं, हां, ऐसे लोग समूची जिम्मेंदारी भगवान् पर छोड़ देते हैं।

❁

समर्पण और प्रगति

सच्चा पथ है समर्पण, भगवान् के प्रति पूर्ण, निरपेक्ष, बिना शर्त समर्पण। यदि तुम अपने-आपको समग्र भाव से और बदले में बिना कुछ मांगे भगवान् को दे देते हो, अपनी चेतना को भगवान् की चेतना में पूरी तरह निमज्जित कर देते हो तो इससे तुम्हारे सब दुःखों का अन्त हो जायेगा - परंतु समर्पण होना चाहिये सर्वांगीण, बिना शर्त के, बिना सौदे के, एकदम पूर्ण, इसमें सभी कुछ आ जाता है - सब कामनाएं, तुम्हारी आवश्यकताएं, तुम्हारी इच्छाएं, तुम्हारी पसन्दगियां, तुम्हारी नापसन्दगियां, तुम्हारी मांगें, तुम्हारे संकल्प, सभी कुछ जो तुम्हारे इस छोटे-से व्यक्तित्व का निर्माण करता है और तब तुम शान्ति पा लोगे और तुम्हारे दुःख-दर्दों का अन्त हो जायेगा। **- श्रीमाँ**

भगवान् सब कुछ कर सकते हैं, - हृदय और प्रकृति को शुद्ध कर सकते है, आन्तर चेतना को जगा सकते हैं, पर्दों को हटा सकते हैं, - यदि व्यक्ति विश्वास और भरोसे के साथ अपने-आपको भगवान् के हाथों मे सौंप दे और यदि वह ऐसा एकदम पूरी तरह न भी कर सके, तो भी वह जितना अधिक करेगा उतनी अधिक उसे आंतरिक सहायता मिलेगी और पथ-प्रदर्शन प्राप्त होगा तथा अन्तर में भगवान् की अनुभूति बढ़ती जायगी। यदि शंकाशील मन अपनी क्रिया कम कर दे और नम्रता तथा समर्पण-वृत्ति बढ़ती जाए तो यह पूरी तरह संभव होना चाहिये और तब इसके अतिरिक्त किसी और बल या तपस्याकी जरूरत नहीं रहती, बस यही पर्याप्त होता है। **- श्री अरविंद**

समर्पण, स्वार्पण और आत्म-निवेदन

अपने जीवन का उत्तरदायित्व भगवान् को सौंप देने का निश्चय समर्पण है। इस निश्चय के बिना कुछ भी संभव नहीं है। अगर तुम समर्पण न करो तो योग का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बाकी सब चीज़े स्वभावतः उसके बाद आती है, सारी प्रक्रिया समर्पण से आरंभ होती है। तुम ज्ञान के द्वारा या भक्ति के द्वारा समर्पण कर सकते हो। तुम्हें प्रबल अंतर्भास हो सकता है कि केवल भगवान् सत्य हैं और एक ज्योतिर्मय विश्वास हो सकता है कि भगवान् के बिना तुम्हारा काम नहीं चल सकता या तुम्हारे अंदर सहज यह भाव उठ सकता है कि सुखी होने का यही एकमात्र मार्ग है, एक प्रबल चैत्य इच्छा हो सकती है कि तुम पूरी तरह भगवान् के हो जाओ, तुम कहोः ''मैं स्वयं अपना मालिक नहीं हूँ,'' और अपनी सत्ता की पूरी ज़िम्मेदारी सत्य को सौंप दो। इसके बाद आता है आत्म-निवेदनः ''यह रहा मैं, विविध गुणों का, अच्छे-बुरे, अंधेरे-उजाले गुणोंवाला जन्तु। मैं अपने-आपको तुम्हारे हाथों में अर्पित करता हूँ, जैसा हूँ वैसा ही देता हूँ, मेरे सब ऊँच-नीच, मेरे अपने परस्पर-विरोधी आवेगों और वृत्तियों के साथ मुझे स्वीकार कर लो - मेरे साथ जो चाहो करो।''

तुम अपने आत्मदान के काल में अपने-आपको उस केंद्रीय चैत्य संकल्पके चारों ओर संगठित करना शुरू करते हो जिसने पहला निर्णय लिया था। तुम्हें अपनी प्रकृति के सभी विरोधी तत्त्वों में सामंजस्य स्थापित करना है, उन्हें एक-एक करके लेना और केंद्रिय सत्ता के साथ एकरूप करना है। तुम एक

सहज-स्वाभाविक गति में अपने-आपको भगवान् को दे सकते हो पर इस एकीकरण के बिना उन्हें अपने-आपको प्रभावकारी ढंग से दे सकना संभव नहीं। तुम जितने अधिक एकीभूत हो सको, आत्म-दानको चरितार्थ करनेके लिये उतने ही अधिक योग्य हो सकोगे। और जब एक बार आत्म-दान पूर्ण हो जाता तो आत्म-निवेदनकी बारी आती है : यह चरितार्थता की सारी प्रक्रिया का मुकुट है, जीने की अंतिम सीढ़ी है, इसके बाद कोई कठिनाई शेष नहीं रह जाती, सब आसानी से चलता है। पर तुम्हें यह नहीं भूलना चाहिये कि तुम एक बार में ही समग्र भाव से समर्पित नहीं हो सकते।

पूर्ण आत्म-निवेदन निःसंदेह सरल चीज नहीं है और यदि इस सारे को तुम्हें अपने-आप ही, अपने ही स्वतंत्र व्यक्तिगत प्रयत्न के द्वारा करना होता तो इसमें अनिश्चित रूपसे लम्बा समय लग जाता। पर जब भागवत कृपा तुम्हारे साथ होती है तो ठीक ऐसा नहीं होता। जब-तब भगवान् की ओर से जरा-सा दबाव पड़ने पर, कभी इस दिशा में और कभी उस दिशा में जरा-सा वेग मिल जाने पर काम अपेक्षया काफी सरल हो जाता है। निश्चय ही समय की लम्बाई व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर करती है, फिर भी इसे बहुत ही छोटा किया जा सकता है यदि तुम सचमुच एक दृढ़ संकल्प कर लो। संकल्प ही वह चीज है जिसकी सर्वाधिक जरूरत है - संकल्प ही सब कुंजियों की कुंजी है।

क्या इनमें भेद किया जा सकता है ?

अगर तुम बाल की खाल निकालना चाहो, तो आत्म-निवेदन, आत्म-समर्पण और अर्पण में भेद किया जा सकता है। ये तीनों अलग-अलग पहलू हो सकते हैं। लेकिन तभी जब हमें सचमुच जटिलताएं उत्पन्न करनी हों। क्योंकि लिखते समय, जैसा कि मैं कह चुकी हूं, वाक्य की लय के अनुसार हम एक शब्द की जगह दूसरा रख सकते हैं, और अर्थ वही बना रहता है। क्योंकि अगर तुम भेद करना चाहो, तो तुरन्त तुम विशेषण लगाने के लिये बाधित होते हो, है न. . . केवल शब्दों को लो, ''आत्मनिवेदन, अर्पण और आत्म-समर्पण'' . . .। अब, अगर तुम्हें भेद करना है, तो तुम कहते हो ''पूर्ण आत्म-समर्पण'', ''आंशिक आत्म-निवेदन'' . . .। है न, तुम्हें विशेषण जोड़ने ही पड़ते हैं : यह शब्द पर्यायवाची हैं।

एकमात्र भगवान् को चाहना

योग मात्र स्वरूपतः एक नूतन जन्म है। इसका अर्थ मनुष्य के साधारण मनोमय एवं स्थूल जीवन से निकलकर एक उच्चतर आध्यात्मिक चेतना और महत्तर तथा दिव्यतर सत्ता में जन्म लेना है। जब तक एक विशालतर आध्यात्मिक जीवन की आवश्यकता के प्रति प्रबल जागृति नहीं हो जाती तब तक किसी भी योग का सफलतापूर्वक प्रारम्भ तथा अनुसरण नहीं किया जा सकता। जिस आत्मा को इस गंभीर एवं बृहत्तर परिवर्तन के लिये आह्वान प्राप्त हुआ है वह इसके पथ पर नाना प्रकार से पदार्पण कर सकती है। . . . वस्तुतः

पुकार सदा साधक की प्रकृति और परिस्थिति के अनुसार आती है।

परन्तु यह चाहे जैसे भी आवे, मन और इच्छा-शक्ति का निर्णय आवश्यक है और, उसके परिणामस्वरूप, पूर्ण तथा अमोघ आत्म-निवेदन भी। सत्ता में एक नवीन आध्यात्मिक विचारशक्ति का स्वागत और ऊर्ध्व की ओर अभिमुखता, ज्ञान का प्रकाश, एक ऐसा दिशा-परिवर्तन या रूपान्तर जिसे इच्छा-शक्ति और हृदगत अभीप्सा एकदम ग्रहण कर लें - यह सब एक ऐसी वेगयुक्त प्रक्रिया है जिसमें सभी योगजन्य फल बीज-रूप में विद्यमान हैं। किसी उच्चतर परतत्त्व की कोरी कल्पना या बौद्धिक जिज्ञासा को हमारा मन चाहे कितनी भी रूचि और दृढता के साथ क्यों न अपना ले, किन्तु हमारे जीवन पर इसका तब तक कुछ भी प्रभाव नहीं होगा जब तक हृदय इसे इस रूप में अंगीकार न कर ले कि यही एक चाहने योग्य वस्तु है और इच्छा शक्ति इस रूप में स्वीकार न करले कि यही एक करने योग्य कार्य है। कारण, आत्मा के सत्य को केवल विचार का विषय ही नहीं बनाना है अपितु, उसे जीवन में उतारना भी है और उसे जीवन में लाने के लिये सत्ता की एक संगठित एकाग्रता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। जिस अतिमहान् परिवर्तन को यह योग साधित करना चाहता है वह विभक्त इच्छा-शक्ति से, या शक्ति के एक स्वल्प अंश से, या दोलायमान मन से सम्पादित नहीं हो सकता। जो व्यक्ति भगवान् को पाना चाहता है उसे भगवान् के प्रति और केवल भगवान् के ही प्रति अपने-आपको उत्सर्ग करना होगा।

सच्चा समर्पण तुम्हें विस्तृत करता है

समर्पण से हमारा आशय... स्वतःस्फूर्त आत्मदान से है, अपने-आपको पूरी तरह भगवान् को, एक ऐसी उच्चतर चेतना को दे देना जिसके तुम एक अंग हो। समर्पण तुम्हारा ह्रास नहीं करेगा, बल्कि तुम्हारी वृद्धि करेगा, वह तुम्हारे व्यक्तित्व को घटायेगा नहीं, न उसे दुर्बल करेगा, न उसका नाश ही करेगा, बल्कि वह उसको सुदृढ़ बनायेगा, उसका उत्कर्ष करेगा। समर्पण का अर्थ है देने के पूर्ण आनन्द के साथ मुक्त-भाव से और पूर्ण रूप से देना, इसमें बलिदान का कोई भाव नहीं हैं। यदि तुममें ज़रा-सा भी ऐसा भाव हो कि तुम बलिदान कर रहे हो तो फिर वह समर्पण नहीं रहता। क्योंकि इसका तो यह अर्थ हुआ कि तुम अपने-आपको बचाये रखना चाहते हो अथवा यह कि तुम अनिच्छापूर्वक या कष्ट और प्रयास के साथ देने की चेष्टा कर रहे हो, तुम्हें देने का आनंद नहीं मिलता, शायद तुम्हारे अंदर देने का भाव तक नहीं होता। जब कभी तुम किसी काम को अपनी सत्ता पर दबाव डालकर करते हो तब तुम यह निश्चयपूर्वक जान लो कि तुम उस काम को गलत तरीके से कर रहे हो। सच्चा समर्पण तुम्हें विशाल बनाता है, तुम्हारी क्षमता में वृद्धि करता है, वह तुम्हारे गुण और मात्रा के परिमाण को इतना बढ़ाता है जितना तुम अपने-आप न बढ़ा पाते। गुण और मात्रा की यह नई वृद्धि पहले जो कुछ तुम प्राप्त कर सकते थे उससे भिन्न प्रकार की है : तुम किसी दूसरे ही जगत् में प्रवेश करते हो, किसी विशालता में, जिसमें समर्पण किये बिना न पहुँच पाते। यह तो ऐसे ही है जैसे समुद्र में जल की एक बूँद गिरती है। अगर उसने अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखा तो वह मात्र जल की एक बूँद

रहेगी, इससे अधिक कुछ नहीं, एक छोटी बूँद जो अपने इर्द-गिर्द की विशालता से कुचली जायेगी, क्योंकि उसने समर्पण नहीं किया है। परंतु समर्पण कर देने पर, वह उस समुद्र के साथ एक हो जाती है और समग्र समुद्र की प्रकृति और शक्ति और विशालता का अंग बन जाती है।

इस गतिमें किसी तरहकी संदिग्धता या अस्पष्टता नहीं होती, यह स्पष्ट बलवान् और निश्चित होती है। यदि कोई छोटा-सा मानव मन भागवत विराट् मन के सामने खड़ा हो और फिर भी अपने पृथकत्व से चिपका रहे, तो वह जो कुछ है वही बना रहेगा, एक छोटा-सा परिसीमित पदार्थ जो उच्चतर सद्वस्तुके स्वभावको नहीं जान सकता, उसके संपर्क में नहीं आ सकता। ये दोनों एक-दूसरे से अलग बने रहते है और गुण तथा मात्रा की दृष्टि से एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न रहते हैं। परंतु यदि वह छोटा-सा मानव मन समर्पण करे तो वह भागवत विराट् मन में निमग्न हो जायगा, गुण और मात्रा में भी उसके साथ एक हो जायगा। इस तरह वह केवल अपनी सीमाओं और विकृतियों के सिवाय कुछ न खोयेगा और इससे पा लेगा अपनी विशालता और प्रकाशमान विमलता को। उसके छोटे-से अस्तित्व का स्वभाव बदल जायगा और वह जिस महत्तर सत्य को समर्पण करता है उसके स्वभाव को धारण कर लेगा। परंतु यदि वह विराट् मन का प्रतिरोध करे, उसके साथ युद्ध करे, उसके विरूद्ध विद्रोह करे तो दोनों के बीच एक लड़ाई अनिवार्य हो जायगी और विराट् मन का मानव मनपर दबाव पड़ेगा और जो निर्बल और छोटा है वह बलवान् और बड़े की शक्तिमत्ता और अमितता में समा जायगा। यदि वह समर्पण न करे तो उसकी एकमात्र गति यही है कि वह चूस लिया जाय और उसका अंत हो जाय। जो मानव प्राणी भागवत मन के स्पर्श में आयेगा और समर्पण करेगा वह देखेगा कि उसका अपना मन अपने अज्ञान और अंधकार से तुरंत शुद्ध होने लगा है और वह भागवत विराट् मन की शक्ति और ज्ञान में भाग लेने लगा है। और यदि वह सामने खड़ा रहे, किन्तु पृथक् भाव से, बिना किसी संस्पर्श के, तो वह जो कुछ है वही बना रहेगा, उस अपरिमेय विशालता में जल की एक बूंद। और यदि वह विद्रोह करे तो वह अपने मन को गंवा देगा, उसकी शक्तियां क्षीण होने लगेंगी और लुप्त हो जायेगी। और जो बात मन के लिये सत्य है वही प्रकृति के अन्य सब भागों के लिये भी सत्य है। यह ऐसा है जैसे तुम किसी ऐसे मनुष्य के साथ लड़ो जो तुमसे बहुत अधिक तगड़ा हो, तो तुम्हें बस सिर फुड़वाने का ही लाभ होगा। तुम उस चीज से क्योंकर लड़ सकते हो जो तुमसे लाखों गुनी बलवान् है ? प्रत्येक बार जब तुम विद्रोह करोगे तब तुम्हें एक आघात पहुंचेगा और प्रत्येक आघात तुम्हारी शक्तिके एक भागको हर लेगा, यह वैसी ही बात है जैसे कोई अपने से बहुत अधिक बलवान् प्रतिद्वंद्वी के साथ मुष्टि युद्ध में उतरे और घूंसे पर घूंसा खाता जाय और हर घूंसा उसे अधिकाधिक कमजोर बनाता जाय और अन्तमें वह पछाड़ खा जाय। इसमें किसी संकल्प-शक्ति के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती, यह काम आप-से-आप हो जाता है। यदि तुम विशालता के विरूद्ध विद्रोह करके उससे टकराओ तो इसके सिवाय और कोई परिणाम हो ही नहीं सकता। जबतक तुम अपने कोनेमें पड़ें रहो और साधारण जीवन बिताते रहो तबतक तुम्हें कोई नहीं छूता या कोई तुम पर चोट नहीं करता, किन्तु जहां तुम भगवान् के संस्पर्श में आये कि तुम्हारे लिये केवल दो ही मार्ग रह जाते हैं। या तो तुम समर्पण करो और उसमें अपने-आपको मिला दो और तुम्हारा समर्पण तुम्हें विशाल और महिमान्वित करेगा; या फिर तुम विद्रोह करो और तब तुम्हारी सब संभावनाएं समाप्त हो जायेगी और तुम्हारी शक्तियां क्षीण

होकर नष्ट होने लगेगी और तुममेंसे खिंचकर उस देव में समा जायेगी जिसका तुम विरोध कर रहे हो।

समर्पण के विषयमें बहुत से भ्रान्त विचार फैले हुए है। ऐसा लगता है कि अधिकतर लोग समझते हैं कि समर्पण करनेका अर्थ है व्यक्तित्व का विसर्जन, किन्तु यह एक गहरी भूल है। कारण, व्यक्तिके अस्तित्व का प्रयोजन है भागवत चेतना के एक पहलू की अभिव्यक्ति, और इस पहलू के स्वभावगत धर्म के प्रकाशन से ही उसके व्यक्तित्व की रचना होती है। इसलिये भगवान् की ओर उचित भाव रखने से यह व्यक्तित्व क्षीण और विकृत करनेवाले निम्न प्रकृति के प्रभावों से मुक्त हो जाता है और अधिक शक्ति संपन्न होकर, अपने स्वरूप में अधिक प्रतिष्ठित होता है और अधिक पूर्ण बन जाता है। उसके व्यक्तित्व का सत्य और सामर्थ्य अपने अधिक विशिष्ट रूप में चमकने लगता है, उसका चरित्र अधिक यथार्थ रूपमें प्रत्यक्ष होता है जैसा कि उस समय संभव न होता जब वह सारे अज्ञान और अन्धकार से, निम्न प्रकृति की सारी गंदगी और खोट से मिला हुआ था। अब उसका व्यक्तित्व ऊंचाई में और महिमा में बढ़ने लगता है, उसकी क्षमता में वृद्धिहो जाती है तथा उसकी अधिकतर संभावनाएं सिद्ध होने लगती है। परंतु यह उदात करनेवाला परिवर्तन लानेके लिये व्यक्ति को पहले उस सबका त्याग करना होगा जो सत्य स्वभाव को विकृत, सीमित और तमोग्रस्त करके उसके सच्चे व्यक्तित्व को बन्धनमें डालता, नीचे की ओर गिराता तथा विरूप बनाता है ; उसे अपने-आप में से उन सब तत्त्वों को निकाल फेंकना होगा जो साधारण मनुष्य की अज्ञानमयी, निम्न क्रियाओं से तथा उसके अन्धे-लंगड़े साधारण जीवन से संबंध रखते हैं। सबसे पहले उसे अपनी कामनाओं का त्याग करना होगा; कारण, कामना निम्न प्रकृति की सबसे अधिक तमसाच्छन्न क्रिया है और यह मनुष्य को सबसे अधिक तमसाच्छन्न करती है। कामनाएं दुर्बलता और अज्ञान की गतियां हैं और ये तुम्हें अपनी दुर्बलता तथा अज्ञान से बांधे रखती हैं। लोगों की धारणा है कि कामनाएं उनके अपने अन्दर उत्पन्न होती हैं, वे महसूस करते हैं कि ये या तो उनके अपने-आप में से पैदा होती है या उनके अपने अन्दरसे उठती हैं, किन्तु यह एक भूल है। कामनाएं अंधकारग्रस्त निम्न प्रकृति के विशाल समुद्र की लहरें हैं और एक व्यक्तिसे दूसरे व्यक्तिमें पहुंचती रहती है। मनुष्य कामना को अपने-आपमें पैदा नहीं करते, बल्कि ये लहरें उन पर चढ़ आया करती हैं, जो कोई इनके लिये खुला हो या जिसने अपने बचाव का प्रबन्ध न किया हो वह इनकी पकड़ में आ जाता है और इनके थपेड़ों को खाता हुआ इधर-से-उधर डोलता रहता है। कामना मनुष्य को अभिभूत करके, उसपर अधिकार करके उसे विवेक करने लायक नहीं रहने देती और उसमें ऐसी धारणा जमा देती है कि इस (कामना) की अभिव्यक्ति करना भी उसके अपने स्वभाव का एक अंग ही है। पर सच तो यह है कि मनुष्य के सत्य स्वभाव के साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। ईर्ष्या, डाह, घृणा और हिंसा आदि सभी निम्नतर आवेगों के सम्बन्ध में यही बात है। ये भी वे गतियां है जो तुम्हें पकड़ लेती हैं, वे लहरें है जो तुमपर चढ़ आती और तुम्हें पराजित करती हैं; इनका सत्य चरित्र या सत्य स्वभाव से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि ये तो उन्हें विरूप बनाती हैं। ये तुम्हारा वास्तविक या अविभाज्य अंग नहीं हैं, बल्कि ये ईद-गिर्द के उस अंधकारमय समुद्रों से आती है जिनमें निम्न प्रकृतिकी शक्तियां विचरण करती है। इन कामनाओंमें, इन आवेशोंमें कोई व्यक्तित्व नहीं होता, इनमें तथा इनकी क्रियाओंमें ऐसी कोई चीज नहीं होती जो तुम्हारे लिये खास हो, ये इसी रूपमें सभी के अन्दर प्रकट होती हैं। मन की अज्ञानमय गतियां, व्यक्तित्व को ढक देनेवाली

तथा उसकी वृद्धि और सार्थकता को क्षीण करनेवाली भ्रान्तियां, सन्देह और कठिनाइयां भी, इसी मूल से आती है, ये गुजरती हुई लहरें है और जो कोई इनकी पकड़में आनेके लिये और अन्धे उपकरण की तरह काम आनेके लिये तैयार हो उसे पकड़ लेती है। फिर भी, प्रत्येक मनुष्य यह विश्वास लिये फिरता है कि ये गतियां उसका अपना अंग और उसके अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व की बहुमुल्य उपज है। इतना ही नहीं, ऐसे लोग भी हैं जो इनसे और अपनी अक्षमताओं से चिपके रहते हैं मानों ये ही उनकी स्वतंत्रता का चिह्न या सार है।

❁

योग-मार्ग में क्या-क्या खतरे हैं? क्या योग पाश्चात्य लोगों के लिये विशेष रूप से खतरनाक है ? किसी ने कहा है कि पूर्वके लोगोंके लिये योग करना अनुकूल हो सकता है किन्तु पाश्चात्य लोगों पर इसका असर उनके मानसिक संतुलन को बिगाड़ देता है।

पूर्वीय लोगों की अपेक्षा पाश्चात्य लोगों के लिये योग अधिक खतरनाक नहीं है। सब कुछ इस बातपर निर्भर है कि तुम इसमें किस भावसे आते हो। योग खतरनाक अवश्य हो जाता है यदि वह अपने लिये या स्वार्थसिद्धि के लिये किया जाय। और इसके विपरीत, यदि तुम उसकी पवित्रता की भावना को लिये हुए और यह याद रखते हुए कि तुम्हारा लक्ष्य भगवान् को पाना है, योग करो तो फिर योग से किसी प्रकार का भय नही रहता, बल्कि वह साक्षात् क्षेम और सुरक्षा बन जाता है।

कठिनाइयों और खतरे तो तब उपस्थित होते है जब लोग भगवान् के लिये योग-साधना नहीं करते, बल्कि किसी शक्ति की प्राप्ति के लिये या योग की आड़ में किसी महत्तवाकांक्षा की पूर्ति के लिये योग करते है। यदि तुम महत्तवाकांक्षाओं से छुटकारा नहीं पा सकते तो इसका स्पर्श मत करो, यह आग है जो जला देती है।

योग-साधना के दो मार्ग है, एक है तपस्या का और दूसरा है समर्पणका। तपस्याका मार्ग कठोर है, इस मार्गमें तुम सर्वथा अपने ऊपर ही निर्भर रहते हो, अपने निजी सामर्थ्यसे ही आगे बढ़ते हो। तुम अपनी शक्तिके परिणाममें ही ऊंचे उठते हो और उसीके अनुसार फल पाते हो। इस मार्गमें नीचे गिरने का भय हमेशा लगा रहता है। परंतु दूसरा मार्ग, समर्पणका मार्ग निरापद और निश्चित है। परंतु पश्चिम वालों को इसमें कठिनाई होती है। उन्हें यह शिक्षा मिली है कि वे उन सभी चीज़ो से डरें और बचें जो उनकी व्यक्तिगत स्वाधीनता पर हाथ बढ़ायें। वे व्यक्तित्व की भावना को अपनी माता के दूध के साथ-साथ पीते हैं। और समर्पण का अर्थ है इस सबका त्याग। इस समर्पण-मार्ग को यदि तुम पूर्ण रूप से और सच्चाई के साथ अपना लो तो कोई गंभीर कठिनाई या कोई भय नहीं रहता। प्रश्न केवल सच्चाई का है। यदि तुम सच्चे नहीं हो तो योग-साधना आरंभ मत करो। मानवी विषयों मे धोखा-धड़ी चल सकती थी, किंतु भगवान् के साथ व्यवहार करने में धोखे के लिये कोई स्थान नहीं है। तुम इस मार्ग पर तभी निरापद होकर यात्रा कर सकते हो जब तुम ऋजु, निष्कपट तथा पूरी तरह खुले हुए हो, जब तुम्हारा एकमात्र ध्येय भगवान् का साक्षात्कार करना, उन्हें पाना और उनके द्वारा परिचालित होना हो।

एक और खतरा है, और वह है कामवासना के संबंधमें। योग पवित्र करने की प्रक्रिया में उन सभी वासनाओं और इच्छाओं को जो तुम में छिपी पड़ी है, उघाड़ देगा और उनको ऊपरी तल पर उठा लायेगा। और तुम्हें यह सीखना होगा कि न तो इन चीजोंको छिपाया जाय और न इनकी अवहेलना की जाय। तुम्हें इन सब चीजोंका मुकाबला करना होगा, इनपर विजय प्राप्त करनी होगी और इन्हें एक नये साचे में ढ़ालना होगा। अस्तु, योगका पहला प्रभाव होता है मानसिक संयम को हटा देना, इससे साधक की वे अतृप्त वासनाएं, जो उसके अंदर सोयी पड़ी रहती हैं, हठात् मुक्त होकर ऊपर उभड़ आती हैं और उस पर आक्रमण करती हैं। जब तक इस मानसिक संयम का स्थान भागवत् संयम नहीं ले लेता तबतक संक्रमणकाल रहता है और इस काल में तुम्हारी सच्चाई और समर्पण कसौटी पर कसे जाते हैं। काम-वासना और इस प्रकारके दूसरे आवेशों को बल मिलने का प्रायः यह कारण होता है कि लोग इनपर बहुत अधिक ध्यान देते हैं, बहुत तीव्रताके साथ इनकाः विरोध करते है और निग्रह द्वारा इन्हें रोके रखना, अपने अंदर ही किसी तरह दबाये रखना चाहते हैं। परंतु तुम किसी चीजके बारेमें जितना अधिक सोचते हो और कहते हो : ''मैं उसे नहीं चाहता, मैं उसे नहीं चाहता,'' उतना ही अधिक उससे बंधते जाते हो। तुम्हें करना यह चाहिये कि उस चीज को अपने से दूर रखो, उससे संबंध तोड़ लो, उस पर कम-से-कम ध्यान दो और इस पर भी यदि वह कभी तुम्हारे चिंतन में आये तो उससे उदासीन और निर्लिप्त रहो। योग का दवाब पड़ने के कारण जो इच्छाएं और वासनाएं ऊपर उभड़आती हैं उनका अनासक्त रहकर, शांति के साथ मुकाबला करना चाहिये, यह समझना चाहिये कि ये विजातीय वस्तुएं हैं अथवा बाह्य जगत्की चीजें हैं जिनसे तुम्हारा कोई संबंध नहीं है। उन्हें भगवान् को सौंप देना चाहिये ताकि भगवान् उनको अपने हाथमें ले ले और उनका रूपांतर कर दें।

एक बार यदि तुम अपने-आपको भगवान् की ओर खोल चुके हो, यदि भगवान् की शक्ति एक बार तुममें उतर चुकी है और फिर भी तुम पुरानी शक्तियों के साथ संबंध बनाये रखना चाहते हो तो तुम अपने लिये कष्ट, कठिनाई और खतरे मोल ले रहे हो। तुम्हें सावधान रहना चाहिये और इसका ख्याल रखना चाहिये कि कहीं तुम भगवान् की आड़ में अपनी इच्छाओं को तो संतुष्ट नहीं कर रहे। ऐसे बहुत-से स्वयं-नियुक्त गुरू है जो इसके सिवाय कुछ नहीं करते। यदि तुम सीधे मार्ग से भटक जाओ, तुममें थोड़ा सा ज्ञान तो हो, किन्तु काफी शक्ति न हो, तो एक विशेष प्रकार के सत्त्व या सत्ताएं तुमपर अधिकार जमा लेती हैं, तुम्हें अपना खिलौना बना लेती हैं और अंतमें तुम्हें निगल जाती है। जहां कहीं कपट है वही खतरा है। तुम भगवान् को धोखा नहीं दे सकते। क्या तुम भगवान् के पास यह कहते हुए आते होः ''मै आपके साथ एक हो जाना चाहता हूँ'' और तुम्हारे मनमें होता है : ''मै शक्ति और भोग चाहता हूँ'' ? सावधान ! यदि ऐसा है तो तुम सीधे कगार के किनारे की ओर बढ़े जा रहे हो। फिर भी सत्यानाश से बचना बहुत सहज है। एक बालक की तरह हो जाओ, अपने-आपको भगवती माता के अर्पण कर दो, उनकी गोद में रहो, फिर तुम्हारे लिये कोई खतरा नहीं रह जायगा।

इसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हें अन्य कठिनाइयोंका सामना करना ही नहीं पड़ेगा अथवा तुम्हें किन्हीं विघ्न बाधाओं से युद्ध करना और उनपर विजय प्राप्त करना ही नहीं होगा। समर्पण का अर्थ यह नहीं कि साधना में सतत, बाधारहित और सरल प्रगतिके लिये कोई परवाना मिल गया। इसका कारण यह है कि

अभीतक न तो तुम्हारी सत्ता एक हुई है न तुम्हारा समर्पण ही अनन्य और पूर्ण हो पाया है। तुम्हारा एक भाग ही समर्पण करता है ; आज एक भाग तो कल दूसरा। योग-साधनाका सारा प्रयोजन ही यह है कि सत्ताके सभी बिखरे हुए भागों को इकट्ठा करके अविभाजित एकता में गढ़ा जाय। जबतक यह नहीं हो जाता तबतक कठिनाइयों से - उदाहरणके लिये संदेह, उदासी या दुविधा जैसी कठिनाइयों से तुम्हारा पिंड नहीं छूट सकता। सारा जगत् विष से भरा हुआ है और तुम हर सांसके साथ उसे अंदर ले रहे हो। यदि तुम किसी अवांछनीय मनुष्य के साथ थोड़ी-सी बातचीत करो अथवा इस प्रकारका मनुष्य तुम्हारे पास से होकर निकल जाय तो इतनेसे ही संभव है कि तुम उसके संक्रामक रोगको ग्रहण कर लो। महामारी के पास से गुजरना ही उसके जहर की छूत को लगा लेने के लिये प्रर्याप्त है ; इस जहर की उपस्थिति का तुम्हें पता हो यह जरूरी नहीं होता। तुम्हारी बहुत दिनोंकी कमाई कुछ क्षणों में नष्ट हो सकती है। जबतक तुम मानवता के घेरे में हो और साधारण जीवन व्यतीत करते हो तबतक यदि तुम संसारी मनुष्यों से हिलो-मिलो तो इसमें कोई खास चिंताकी बात नहीं; किंतु यदि तुम दिव्य जीवन की कामना रखते हो तो तुम्हें अपने संगी-साथी और अपनी परिस्थिति के बारे में बहुत सावधान रहना पड़ेगा।

समर्पण : संक्षिप्त प्रश्न और उत्तर

क्या समर्पण के बिना सत्ता का रूपांतर संभव नहीं है ?

यदि समर्पण न हो तो पूरी सत्ता का रूपांतर नहीं हो सकता ।

★

साधक में सच्चा समर्पण कब शुरू होता है ?

वह तब शुरू होता है जब सच्चा आत्म-निवेदन हो।

★

सच्चा आत्म-निवेदन किस तरह किया जाय ?

अहंकार और इच्छा का अनुकरण न करके। अहंकार और इच्छा समर्पण को रोकते हैं।

★

यह जानने की क्या निशानी है कि साधक का ईश्वर के प्रति समर्पण उसके जीवन पर निश्चित रूप से क्रियात्मक प्रभाव डाल रहा है ?

चिह्न यह है कि साधक में प्रश्न, विद्रोह, मांग या शर्तके बिना पूरी आज्ञाकारिता हो और वह सभी भागवत प्रभावों का प्रत्युत्तर दे और जो कुछ भगवान् की ओर से न हो उसका त्याग करे।

★

क्या यह तथ्य नहीं है कि बार-बार समर्पण का निश्चय करनेके बाद भी पुरानी आदतें प्रभावशाली सिद्धिके रास्तेमें आती हैं ?

हां, निश्चय ही –जबतक सच्चाई, पवित्रता और समर्पण पूर्ण न हों तबतक वे ऐसा करती रहती हैं।

★

गीता का केंद्रीय रहस्य है, सब धर्मों का त्याग करके भगवान् के प्रति समर्पण - 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'। 'सर्वधर्मान्' का अर्थ क्या है?

ऐसी सब रचनाएं जो मन की पसंदों, प्राण की इच्छाओं, भौतिक की अपनी आदतों के प्रति आसक्ति पर आधारित हों।

★

क्या साधक के लिये साधना के आरंभ में ही सब धर्मों को त्यागना संभव है ?

नहीं, इसमें समय लगता है, लेकिन समर्पण का संकल्प होना चाहिये।

★

सक्रिय और निष्क्रिय समर्पणमें क्या अंतर है ?

सक्रिय समर्पण तब होता है जब तुम अपनी इच्छा को भगवान् की इच्छा के साथ एक कर सको और जो भागवत नहीं हैं उसे त्याग दो, और जो भागवत है उसे स्वीकार कर लो। निष्क्रिय समर्पण तब होता है जब सब कुछ पूरी तरह से भगवान्पर छोड़ दिया जाय – और यह सचमुच बहुत ही कम लोग कर पाते है। क्रियात्मक रूप में होता यह है कि भगवान् को समर्पण करने के बहाने तुम निम्न प्रकृति को समर्पण कर बैठते हो।

★

माताजी 'विस्तृत समर्पण' नामका जो फूल दिया करती हैं उसका अर्थ क्या है ?

अपनी प्रकृति की हर एक क्रिया और हर एक ब्यौरे में समर्पण ।

★

क्या यह सच है कि जबतक साधककी सच्चाई और समर्पण पूर्ण न हो जायं तबतक उसे बहुत कष्ट सहने पड़ते हैं ?

यदि वह सच्चा रास्ता ले तो कष्ट सहने की जरूरत नहीं है, लेकिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

★

'मातृवाणी' में माताजीने कहा है कि अगर केंद्रिय सत्ताका पूर्ण समर्पण हो जाय तो मुख्य कठिनाई चली जाती है। यह केंद्रीय सत्ता क्या है ? क्या यह चैत्य पुरूष है ?

केंद्रीय सत्ता 'पुरूष' है। यदि इसका समर्पण हो जाय तो दूसरी सभी सत्ताएं भगवान्‌को अर्पित की जा सकती है और चैत्य पुरूषको सामने लाया जा सकता है।

★

इस पुरूष का, जिसे आप केंद्रीय सत्ता कहते हैं, इसका क्या कार्य है और इसका निवास कहां है ?

पुरूष वह सचेतन सत्ता है जो प्रकृति के सभी कार्यों को सहारा देती है। इसका कोई निश्चित स्थान नहीं है। लेकिन केंद्रिय सत्ता होने के नाते वह सामान्यतः आधार के ऊपर रहता है—वही मानसिक, प्राणिक, भौतिक और चैत्य सत्ता हो जाता है।

★

क्या पुरूष ही मनुष्यमें अंतरात्मा है ?

नहीं, चैत्य सत्ता ही मनुष्यमें अंतरात्मा है।

★

पुरूष को भगवान् के प्रति समर्पण में कितना समय लगता है ?

कोई निश्चित समय नहीं है।

स्मर्पण : अनमोल वचन

मार्ग लंबा है पर आत्म-समर्पण उसे छोटा कर देता है ; मार्ग कठिन है पर पूर्ण विश्वास उसे आसान बना देता है।

★

भगवान् के प्रति समर्पण का अर्थ है अपनी संकीर्ण सीमाओं को त्यागना और अपने-आपको 'उनके' द्वारा अभिभूत होने देना और 'उनकी' लीला का केन्द्र बनने देना।

★

समर्पण : अपने जीवन का सारा दायित्व भगवान् को सौंप देने का निश्चय। इसे मन या भावना या जीवन-आवेग या इन सबके द्वारा किया जाता है।

★

ब्योरेवार समर्पण का मतलब है, जीवन के सभी ब्योरों का, ऐसी चीजों का भी जो बिलकुल महत्त्वहीन और निरर्थक मालूम होती हैं, उनका भी समर्पण। और इसका अर्थ है, भगवान् को सभी परिस्थितियों में याद रखना ; हम जो कुछ सोचते हैं, अनुभव करते हैं या करते हैं, वह सब हमें उन्हीं के लिए करना चाहिये ताकि हम उनके ज्यादा नजदीक आयें, हम ज्यादा-से-ज्यादा वह बनें जो वे हमें बनाना चाहते हैं, उनकी इच्छाओं को पूर्ण सच्चाई के साथ, शुद्ध रूप से व्यक्त कर सकें और उनके प्रेम के यंत्र बन सकें।

★

सच्चा समर्पण हमारा विस्तार करता है, हमारी क्षमता बढ़ाता है, हमें गुण और मात्रा में अधिक सामर्थ्य प्रदान करता है जिसे हम अपने-आप नहीं पा सकते थे।

★

कुछ लोग भगवान को अपनी आत्मा देते हैं, कुछ अपना जीवन, कुछ अपना कर्म अर्पित करते हैं कुछ अपना धन और कुछ लोग अपना सब कुछ अर्पित कर देते हैं, जो कुछ उनके पास है - आत्मा, जीवन, कर्म और सम्पत्ति, ये ही भगवान के सच्चे बालक हैं, अन्य लोग कुछ भी नहीं देते। ये लोग भले ही उनकी कोई भी स्थिति क्यों न हो, शक्ति और धन दौलत कितना भी अधिक क्यों न हो, भगवान के प्रयोजन के लिये निर्मूल्य शून्य हैं।

★

जीवन को एक ऐसे फूल की तरह खिलना चाहिये जो अपने-आपको भगवान के प्रति अर्पण करता है। तुम जो कुछ हो, तुम जो कुछ करो उस सबको सच्चाई के साथ समर्पित करना साधना की दृष्टि से ध्यान की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली है। अपने-आपको पूर्ण आत्मदान में भूल जाना उपलब्धि का सबसे निश्चित मार्ग है।

★

हमेशा अपने समर्पण में एकाग्र रहो और अपनी अभीप्सा में सच्चे और निष्कपट रहो तो तुम हमेशा भगवान् की सहायता और उनके पथ-प्रदर्शन की उपस्थिति का अनुभव करोगे। हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण, सभी अवस्थाओं में वे हमारी सहायता के लिये मौजूद हैं।

★

अगर तुम सचमुच उचित रीति और समग्र रूप से भगवान् को समर्पित हो तो तुम हर क्षण वही होगे जो तुम्हें होना चाहिये, वही करोगे जो तुम्हें करना चाहिये और वही जानोगे जो तुम्हें जानना चाहिये। लेकिन उसके लिये तुम्हें अहंकार की सभी सीमाओं को पार करना होगा।

★

तुम जितना ही अधिक फैलोगे उतना ही अधिक तुम्हारे पास होगा। तुम जितना अधिक ही अधिक तादात्म्य साधोगे उतने ही अधिक बन जाओगे। और तब लेने की जगह दोगे। तुम जितना अधिक दोगे उतने ही अधिक बढ़ोगे।

★

अपने आपको पूरी तरह भगवान् को सौंप दो और तुम अपनी सारी कठिनाइयों का अन्त पा जाओगे। आओ, हम अपने मिथ्यात्व को भगवान् को सौंप दें ताकि वे इसे आनन्दमय सत्य में बदल दें। जब किसी का अपना कुछ नहीं रह जाता तब वह विश्व जितना विस्तीर्ण बन जाता है।

★

जो कुछ तुम्हारे पास है उसे दे डालो, यह आरंभ है।

जो कुछ तुम करते हो उसे दे डालो, यह मार्ग है।

जो कुछ हो तुम उसे दे डालो, यह संसिद्धि है।

★

जिन्होंने अपने आपको भगवान् को दे दिया है उनके लिये हर कठिनाई नई प्रगति का आश्वासन होती है और इसलिये उसे 'भागवत कृपा' के उपहार के रूप में लेना चाहिये।

★

अगर तुम सचमुच उचित रीति और समग्र रूपसे भगवान् को समर्पित हो तो तुम हर क्षण वही होगे जो होना चाहिये, वही करोगे जो तुम्हें करना चाहिये, और वही जानोगे जो तुम्हें जानना चाहिये। लकिन उसके लिये तुम्हें अंहकारी सभी सीमाओंको पार करना होगा।

★

ब्योरवार समर्पणः ऐसा समर्पण जो किसी चीजको नहीं भूलता।

★

अगर आदमी पूरी तरह भगवान् के प्रति समर्पण करे तो वह भगवान् के साथ तादात्म्य पा लेता है।

★

पूर्ण समर्पणः तादात्म्य के लिये अनिवार्य शर्त।

★

भक्ति और समर्पण की सर्वांगीण और निरपेक्ष सम्पूर्णता में ही हम अविच्छिन्न आनन्द की ओर ले जानेवाली पूर्ण शन्ति की अनिवार्य स्थिति पाते है।

★

भगवान् के प्रति समर्पण सबसे अच्छा भावनामय संरक्षण है। भगवान् के प्रति संपूर्ण समर्पण ही सच्ची विश्रान्ति है।

★

साधना में सफलता का रहस्य क्या है ?

समर्पण

❁

भगवान् अपने-आपको उन्हीं को देते हैं जो बिना कुछ बचाये और अपने सब भागों समेत अपने-आपको भगवान् को अर्पित करते हैं। उन्हीं के लिये है स्थिर शांति, प्रकाश, शक्ति, सुख, स्वतंत्रता, ज्ञान के शिखर और आनन्द का पारावार।

★

समर्पण दिव्य चरितार्थता का साधन है यह हमारी साधना का पहला सिद्धांत है और जबतक

अहंकारको या प्राणिक मांग और कामना को पोसा जाता है, पूर्ण समर्पण अंसभव है – आत्मनिवेदन अधूरा है। हमने इसे कभी नहीं छिपाया। यह कठिन हो सकता है और है ही ; पर यही साधना का मूल सिद्धांत है। चूंकि यह कठिन है इसलिये जब-तक कार्य पूरा न हो जाय तबतक दृढ़ अध्यवसाय और धैर्य के साथ इसे करने की जरूरत है।

★

जबतक तुम्हारा कोई भी भाग संसार से संबंधित रहेगा, संसार तुम्हें दुःख देता रहेगा। तुम केवल तभी मुक्त हो सकोगे जब पूरी तरह भगवान् के हो जाओगे।

सक्रीय समर्पण

साधनाकी प्रारंभिक अवस्था में - और प्रारंभिक से मेरा मतलब थोड़े-से भाग से नहीं है - प्रयत्न अपरिहार्य है। समर्पण की बात निश्चय ही ठीक है, पर समर्पण ऐसी चीज नहीं जो एक दिन में हो जाय। मन की अपनी धारणाएं होती है और वह उनसे चिपटा रहता है ; मनुष्य का प्राण समर्पण का प्रतिरोध करता है, क्योंकि प्रारंभिक अवस्थाओं में वह जिसे समर्पण कहता है वह एक प्रकार का संदेहपूर्ण मांगों से भरा आत्म-दान होता है ; भौतिक पत्थर के समान है और वह जिसे समर्पण कहती है वह अक्सर तामसिकता से अधिक कुछ नहीं होता। केवल चैत्य पुरूष ही समर्पण करना जानता है और चैत्य पुरूष सामान्यतया प्रारंभ में बहुत अधिक ढ़का होता है। जब चैत्य पुरूष जाग उठता है तो वह एकाएक सारी सत्ताका सच्चा समर्पण करा सकता है क्योंकि तब शेष कठिनाई के साथ तेजी से निबटा जा सकता है और वह शीघ्र ही दूर हो जाती है। पर तबतक प्रयत्न अपरिहार्य है या फिर यह तबतक जरूरी होता है जबतक नीचे की सत्ता में ऊपर से शक्ति की बाढ़ आकर साधना को अपने हाथ में नहीं ले लेती, वह अपने-आप अधिकाधिक कार्य करके व्यक्तिगत प्रयास के लिये कम-से-कम क्षेत्र छोड़ती है – पर उस हालत में भी, यदि प्रयत्न नहीं, तो कम-से-कम अभीप्सा और जागरूकता की जरूरत रहती ही है जबतक कि मन, संकल्प, प्राण और शरीर पर भागवत 'शक्ति' का प्रभुत्व पूर्ण नहीं हो जाता।

★

सक्रिय समर्पण तब होता है जब तुम अपने संकल्पको भगवत् 'संकल्प' के साथ जोड़ देते हो, जो भगवात नहीं है उसका त्याग करते हो और जो भागवत है उसे स्वीकृति देते हो। निष्क्रिय समर्पण तब होता है जब प्रत्येक वस्तुको पूरी तरह भगवान्पर छोड़ दिया जाता है – जिसे शायद ही कोई सच्चाईके साथ कर सकता है, क्योंकि तब क्रियात्मक रूप में तुम भगवान्के प्रति समर्पणके बहाने निम्न प्रकृतिको समर्पण

करते हो।

★

प्रारंभमें सब पसन्दगियोंसे मुक्त होना और भागवत 'इच्छा' से जो आता है उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना किसी भी मानव प्राणीके लिये संभव नहीं। सबसे पहले जिस चीजकी जरूरत है वह है यह निरंतर विचार कि भगवान् जो भी संकल्प करते हैं - मन भले यह न समझ पाये कि यह कैसे है - वह हमेशा अच्छे-से-अच्छेके लिये होता है। जिन बातोंको मन प्रसन्नतासे स्वीकार नहीं कर सकता उन्हें भी मौन भावके साथ स्वीकार कर ले और ऐसी शांत समता प्राप्त कर ले जो बहारी घटतनाओंके प्रति ऊपरी सतहपर होनेवाली क्षणिक प्रतिक्रियाओंसे न डिगे। एक बार यह दृढ़तासे स्थापित हो जाय, तो बाकी चीजें आ सकती हैं।

★

भगवान् पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं, वे हांकते नहीं। ''मनुष्य'' कहलानेवाले प्रत्येक मनोमय प्राणीको यह आंतरिक स्वतंत्रता दी गयी है कि वह भगवान्के नेतृत्वको स्वीकार करे या अस्वीकार कर दे : वरना कोई सच्चा आत्म-विकास हो ही कैसे सकता है ?

तुम चाहे जिस पथका अनुसरण करो, एकात्मताके क्षणतक वैयक्तिक प्रयत्नकी आवश्यकता बनी ही रहती है। उस क्षण सारे प्रयत्न फटे-पुराने कपड़ेकी तरह तुमसे छूट जाते हैं। तुम दूसरे ही व्यक्ति बन जाते हो; तुम्हारे लिये जो असंभव था वह न केवल संभव हो जाता है, बल्कि परम आवश्यक हो उठता है, तुम और ढ़गसे कर ही नहीं सकते।

तुम्हें सतर्क और शांत बने रहना चाहिये, आंतरिक स्फुरणाके लिये प्रतीक्षा करनी चाहिये, बाह्य प्रतिक्रियाओंसे प्रेरित होकर कुछ भी न करना चाहिये, ऊपरसे आते प्रकाशद्वारा परिचालित होना चाहिये और कुछ नहीं। न कुछ सोचो, न प्रश्न करो, न पूछो : '' मुझे यह करना चाहिये या वह, '' बल्कि उस आंतर निश्चयतासे जानना, देखना, सुनना, कार्य करना चाहिये, जो न कभी प्रश्न करती है, न संदेह करती है, क्योंकि निश्चय तुम्हारे अन्दरसे नहीं, बल्कि ऊपरसे आता है। हां तो, यह बहुत जल्दी आ सकता है या किसी को शायद देरतक प्रतीक्षा भी करनी पड़ सकती है, यह व्यक्तिकी पहलेकी तैयारीपर तथा अन्य बहुत-सी बातोंपर निर्भर है। तबतक तुम्हें संकल्प बनाये रखना चाहिये, इसमें अध्यवसायके साथ संकल्प बनाये रखना चाहिये, और सबसे मुख्य बात है कि धैर्य और साहस कभी न छोड़ना चाहिये। यदि आवश्यक हो तो एक ही चीजको हजार बार दुहराओ यह जानते हुए की शायद हजारवीं बार परिणाम प्राप्त हो सकता है।

पूर्ण आत्मसमर्पण की विशेष विधियां

भगवान्‌के प्रति पूर्ण आत्मार्पण करनेकी तीन विशेष विधियां हैं :

१. सारा अभिमान तजकर पूर्ण विनम्रताके साथ 'उनके' चरणों में साष्टांग प्रणिपात करना।

२. 'उनके' सामने अपनी संपूर्ण सत्ताको रख देना, अपने शरीरको सिरसे लेकर पैरतक पूरी तरह खोल देना जिस प्रकार कि कोई पुस्तक खोली जाती है, अपने केंद्रोंको इस प्रकार विस्तारित कर देना कि उनकी सारी क्रियाएं ऐसी पूर्ण सच्चाईके साथ दिखायी पड़ने लगें जो किसी भी चीजको छिपी नहीं रहने देतीं।

३. 'उनकी' बांहोंमें आश्रय लेना, प्रेम और पूर्ण भरोसेके साथ 'उनमें' लीन हो जाना।

इन गतियोंके संग इन तीन सूत्रोंको या अवस्था विशेषके अनुसार इनमेंसे किसी एकको जोड़ा जा सकता है :

(१) तेरी इच्छा कार्यान्वित हो, न कि मेरी।

(२) जैसा तू चाहे, जैसा तू चाहे।

(३) मैं हमेशा के लिये तुम्हारा हूं।

साधारण तौरपर जब ये क्रियाएं उचित ढंगसे की जाती हैं तो परिणामस्वरूप पूर्ण तादात्म्यकी प्राप्ति हो जाती है, अहंका विलय हो जाता है और अलौकिक आनंदका प्रवाह फूट पड़ता है।

पूर्ण योग और उसके उद्देश्य

जिस योग की साधना हम करते हैं वह केवल हमारे लिये ही नहीं प्रत्युत भगवान् के लिये है; उसका उद्देश्य है इस जगत् में भगवान् की इच्छा को कार्यान्वित करना; एक आध्यात्मिक रूपांतर साधित करना और मनुष्यजाति की मनोमय, प्राणमय और अन्नमय प्रकृति और जीवन के अंदर दिव्य प्रकृति और दिव्य जीवन को उतार लाना। उसका उद्देश्य व्यक्तिगत मुक्ति नहीं है, यद्यपि मुक्ति योग की एक आवश्यक अवस्था है, बल्कि उसका उद्देश्य है मानव-सत्ता की मुक्ति और रूपांतर सिद्ध करना। हमारा उद्देश्य व्यक्तिगत रूप से आंनद पाना नहीं है, बल्कि हमारा उद्देश्य है दिव्य आंनद को - ईसा के स्वर्गीय राज्य हो, हमारे सत्ययुग को - पृथ्वी पर उतार लाना।

यह एक ऐसा योग है जिसकी साधना किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिये नहीं, भले ही वह प्रयोजन मुक्ति या आनंद प्राप्त करना ही क्यों न हो, बल्कि अपने अंदर और दूसरों के अंदर दिव्य मानवता को चरितार्थ करने के लिये ही की जाती है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये हठयोग और राजयोग की साधनाएं पर्याप्त नहीं हैं और न त्रिमार्ग (ज्ञान, कर्म और भक्ति) ही यह कार्य पूरा कर सकता है ; इसके लिये हमें और भी ऊपर उठना होगा और अध्यात्म-योग आश्रय ग्रहण करना होगा। इस अध्यात्मयोग का मूल

सिद्धांत है ज्ञान की दृष्टि से उन समस्त वस्तुओं को, जिन्हें हम देखते तो नहीं पर जिन्हें हम जानते हैं - मनुष्य, वस्तुएं, स्वयं हम, घटनाएं, देवता, दानव और देवदूत - इन सबको एक परब्रह्म के रूप में अनुभव करना और कर्म तथा भाव की दृष्टि से उन परात्पर पुरूष को - विश्वातीत, अनंत और विश्वव्यापी पुरूष को पूर्ण आत्मसमर्पण करना जो एक साथ ही साकार और निराकार हैं, सांत और अनंत हैं, स्वात्मसीमित और असीम हैं, एक और बहु हैं तथा ऊपर रहनेवाले केवल देवताओं को ही नहीं, बल्कि यहां नीचे रहनेवाले मनुष्य, कीट और मिट्टी के ढेलेतक को अपनी सत्ता से परिपूरित करते हैं। यह समर्पण पूर्ण होना चाहिये ; कुछ भी अपने लिये बचाकर नहीं रखना चाहिये, कोई कामना-वासना, कोई मांग, कोई राय, यही होगा और वह नहीं हो सकता, यही होना चाहिये और वह नहीं होना चाहिये - ऐसी कोई भावना नहीं रखनी चाहिये, सब कुछ अर्पण कर देना चाहिये। हृदय सब प्रकार की कामनाओं से, बुद्धि सब प्रकार के हठों से मुक्त होनी चाहिये, प्रत्येक द्वंद्व का त्याग होना चाहिये, समस्त दृश्य और अदृश्य जगत् को प्रच्छन्न दिव्य ज्ञान, शक्ति और आंनद की एक परम अभिव्यक्ति के रूप में देखना चाहिये और जिस तरह एक इंजन अपने ड्राइवर के हाथों में निष्क्रिय बना रहता है उसी तरह अपनी समूची सत्ता सौंप देनी चाहिये जिससे दिव्य प्रेम, शक्ति और पूर्ण प्रज्ञा अपना कार्य कर सकें तथा अपनी दिव्य लीला चरितार्थ कर सकें। अहंकार एकदम नष्ट हो जाना चाहिये जिससे हम-जैसा कि भगवान् चाहते हैं कि हम अंत में प्राप्त करें - पूर्ण आनंद, पूर्ण शांति और ज्ञान तथा भागवत सत्ता की पूर्ण कर्मण्यता को प्राप्त कर सकें। पूर्ण आत्म-समर्पण का यह भाव यदि अपूर्ण रूप में भी स्थापित हो जाये तो फिर यौगिक क्रिया की कोई भी आवश्यता नहीं रह जाती। कारण, उस अवस्था में स्वयं भगवान् हमारे अंदर साधक और सिद्ध बन जाते हैं और उनकी दिव्य शक्ति हमारे अंदर कार्य करने लग जाती है ; और वह हमारी कृत्रिम प्रक्रियाओं के द्वारा नहीं अपितु उस प्रकृति माता की क्रियाओं के द्वारा कार्य करती है जो पूर्ण रूप से अभिज्ञ है, समस्त विषयों का अनुसंधान रखती है और अमोघ रूप से कार्यक्षम है। उस दिव्य शक्ति की प्रकृष्ट क्रिया के सामने अत्यंत सामर्थ्यशाली राजयौगिक संयम, अत्यंत उन्नत प्राणायाम, अत्यंत श्रमसाध्य ध्यान, अत्यंत आनंदपूर्ण भक्ति और अत्यंत निष्काम कर्म भी - यद्यपि ये सभी शक्तिशाली और फलोत्पादक हैं - अपने परिणाम में बड़े दुर्बल सिद्ध होते हैं। क्यों कि ये सभी कुछ हदतक हमारी क्षमता से सीमित हैं; पर वह दिव्य शक्ति अपनी क्षमता में असीम है, क्योंकि वह स्वयं भगवान् की क्षमता है। वह केवल भगवान् की इच्छा से ही सीमित है जो यह जानती है कि संसार के लिये और, संसार में तथा इससे बाहर, हम में से प्रत्येक के लिये सबसे उत्तम बात क्या है।

इस योग की सबसे पहली प्रक्रिया है आत्मसमर्पण का संकल्प करना। तुम अपने समूचे हृदय और अपनी सारी शक्ति के साथ अपने-आपको भगवान् के हाथों में सौंप दो। कोई शर्त्त मत रखो, कोई चीज मत मांगो, यंहातक कि योग में सिद्धि भी मत मांगो, एकदम कुछ भी मत मांगो सिवा इसके कि तुम्हारे अंदर और तुम्हारे द्वारा भगवान् की ही इच्छा प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध होती रहे। जो लोग भगवान् से कुछ मांगते हैं उन्हें वह वही चीज देते हैं जिसे वे मांगते हैं, परंतु जो लोग अपने-आपको दे देते हैं और कुछ भी नहीं मांगते उन्हें वह वे सब चींजे देते हैं जिन्हें उन्होंने या तो मांगा होता या जिनकी उन्हें आवश्यकता हुई होती और उनके अतिरिक्त स्वयं अपने-आपको तथा अपने प्रेम के अहेतुकी दानों को प्रदान करते हैं।

इस योग की दूसरी प्रक्रिया है द्रष्टाभाव से अलग होकर अपने अंदर दिव्य शक्ति की क्रिया को देखना। दिव्य शक्ति की यह क्रिया जब हमारे अंदर होती है तब बहुधा देहादि में विक्षोभ और कष्ट उत्पन्न होता है, अतएव श्रद्धा का होना अत्यंत आवश्यक है, यद्यपि पूर्ण श्रद्धा का एकबारगी हो जाना सदा संभव नहीं है; क्योंकि तुम्हारे अंदर जो कुछ मलिनता है - चाहे वह बाहर दिखायी पड़ती हो या भीतर छिपी पड़ी हो - वह आंरभ में उमड़ पड़ती है और जबतक वह जड़मूल से बाहर नहीं निकाल दी जाती तब तक वह बार-बार आक्रमण करती रहती है और इस अवस्था में संदेह काउत्पन्न होना एक ऐसी मलिनता है जो प्रायः सभी साधकों में पायी जाती है। परंतु जब संदेह का भी आक्रमण हो तब उससे अपने को अलग कर लो और तबतक प्रतीक्षा करो जबतक वह तुम्हारे अंदर से निकल न जाये। ऐसे अवसर पर यदि संभव हो तो ऐसी आदमियों के सत्संग से लाभ उठाओ जो इस मार्ग में कुछ आगे बढ़ चुके हों, पर ऐसे सत्संग का अगर अभाव हो तो योग के मूल सिद्धांत आत्मसमर्पण को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहो। जब कोई भीतरी कष्ट तुम्हें सतावे या बाहर से कोई आक्रमण हो तब सदा गीता के इन शब्दों को स्मरण करो –

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।

''अपने-आपको हृदय और मन से मुझे दे देने से तू समस्त कठिनाइयों और संकटों को मेरे प्रसाद से पार कर जायेगा।'' और फिर -

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

''ससस्त धर्मों का (सभी सिद्धांतों, नियमों, हर तरह के साधनों और विधानों का चाहे वे पूर्व के अभ्यास या विश्वास द्वारा निर्मित हुए हों या बाहर से हमारे ऊपर लाद दिये गये हों, उन सबका) परित्याग कर और एकमात्र मेरी शरण में आ जा; मैं तुझे समस्त पापों और दोषों से मुक्त कर दूंगा - शोक मत कर।'' ''मैं मुक्त कर दूंगा'' - तुम्हें इस तरह परेशान होने या संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं मानों सारा उत्तरदायित्व तुम्हारा ही हो और परिणाम तुम्हारे प्रयास पर ही निर्भर करता हो, तुमसे कहीं अधिक शक्तिशाली सत्ता इस कार्य में लगी हुई है। चाहे रोग-शोक हो या संकट उत्पन्न हो या तुम्हारे अंदर कोई पाप या मलिनता उभड़ती हो - किसी बात से तुम्हें जरा भी घबड़ाना नहीं चाहिये। केवल उन भगवान् को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहो। ''मैं तुझे समस्त पापों और दोषों से मुक्त कर दूंगा।'' - स्वयं भगवान् तुम्हें इन सबसे मुक्त कर देंगे। परंतु यह मुक्ति अचानक किसी चमत्कार के रूप में नहीं आती, यह पवित्रीकरण की एक प्रक्रिया के द्वारा आती है और ये सब चीजें उसी प्रक्रिया का एक अंग हैं।

इस योग की तीसरी प्रक्रिया है सभी वस्तुओं को भगवान् के रूप में देखना।

''यह सारा जगत् और इस प्राकृतिक जगत् की प्रत्येक वस्तु ईश्वर के निवास के रूप में सृष्ट हुई है।'' और सभी वस्तुओं और प्राणियों में, सर्वभूतेषु, भगवान् को देखना भी पर्याप्त नहीं है; तुम्हें सभी घटनाओं, क्रियाओं, विचारों और अनुभवों में, अपने में और दूसरों में, जगत्भर में भगवान् को देखना होगा। इस अनुभूति

के लिये दो बातें आवश्यक हैं; पहली तो यह है कि तुम्हें अपने सभी कर्मों का फल भगवान् को सौंप देना होगा और दूसरी यह कि तुम्हें कर्मों को भी उन्हें अर्पण कर देना होगा। कर्मफल को अर्पित करने का अर्थ यह नहीं है कि तुम्हें उससे वैराग्य हो जाये, तुम उससे मुंह मोड़ लो अथवा अपने सामने रखे हुए किसी उद्देश्य से कर्म करना अस्वीकार कर दो। उसका अर्थ यह है कि तुम्हें कर्म तो अवश्य करना चाहिये, पर इसलिये नहीं करना चाहिये कि तुम चाहते हो कि उससे अमुक बात हो जाये अथवा तुम समझते हो कि अमुक बात का होना आवश्यक है और उसके लिये तुम्हारा कर्म करना जरूरी है, बल्कि इसलिये करना चाहिये कि वह तुम्हारा कर्तव्य है, तुम्हारी सत्ता के स्वामी की वह मांग है और उसे तुम्हें करना ही है, चाहे उसका जो भी फल भगवान् तुम्हें क्यों न दें। जो कुछ तुम चाहते हो उसे तुम एक किनारे रख दो और यह जानने की इच्छा करो कि भगवान् क्या चाहते हैं; तुम्हारा हृदय, तुम्हारे आवेग या तुम्हारी अभ्यासगत धारणाएं जो कुछ ठीक और आवश्यक समझती हैं उसपर विश्वास मत रखो और इन सबसे ऊपर उठकर, गीता के अर्जुन की तरह, केवल यह जानने की चेष्टा करो कि भगवान् ने तुम्हारे लिये क्या उचित और आवश्यक निर्धारित किया है। इस बात पर दृढ़ विश्वास रखो कि जब तुम अपने कर्तव्य-कर्म का ठीक-ठीक पालन करोगे तब उसके फलस्वरूप निश्चित रूप से वही होगा जो उचित और आवश्यक है; और अगर वह फल तुम्हारी पसंद या आशा के अनुरूप न भी हो तो भी उस विश्वास को ज्यों-का-त्यों बनाये रखो। कर्म के सर्मपण के लिये सबसे उत्तम आधार यह अनुभूति है कि हमारे सभी कर्मों को प्रकृति भगवान् के आदेशानुसार करती है और भगवान् हमारे स्वभाव के द्वारा उन कर्मों को निधारित करते हैं। जिस क्षण यह अनुभूति स्थापित हो जाती है उसी क्षण से सब कर्म भगवान् के हो जाते हैं, अब न तो कर्म हमारे रह जाते हैं न कर्म का उत्तरदायित्व हम पर रहता है; वास्तव में न तो कर्म का कोई उत्तरादायित्व होता है न बंधन, क्योंकि भगवान् पर किसी प्रकार का उत्तरदायित्व नहीं होता, वह तो हर तरह से सबके स्वामी हैं और स्वतंत्र हैं। उस समय हमारे कर्म शास्त्रानुसार चलनेवाले मनुष्य के कर्म की तरह न केवल स्वभावनियत - प्रकृति द्वारा नियंत्रित - और इसलिसे धर्म बन जाते हैं अपितु स्वयं हमारा स्वभाव ही एक यंत्र की तरह भगवान् द्वारा नियंत्रित होता है। पर ज्ञान की इस स्थिति को प्राप्त कर लेना हमारे लिये उतना आसान नहीं है क्योंकि हम अज्ञान के संस्कारों से भरे हुए हैं। लेकिन साधना की तीन क्रमिक अवस्थाएं हैं जिनके द्वारा इस स्थिति को शीघ्रता से प्राप्त किया जा सकता है।

अतएव इस योग की प्रक्रियाएं इस प्रकार हैं - (१) आत्मसमर्पण का संकल्प करना, (२) आत्मज्ञान के द्वारा अपने-आपको आधार से पृथक् करना, (३) सर्वत्र, सभी वस्तुओं में और सभी घटनाओं में भगवान् के दर्शन करना, कर्मफलों और स्वयं कर्मों को भी भगवदर्पण करना और इस तरह अज्ञान से, अहंकार से, द्वंद्वों से और कामना-वासना से मुक्त हो जाना, जिससे कि तुम अपनी सत्ता में शुद्ध, मुक्त, सिद्ध और आनंदमय हो जाओ। परंतु एक बार आत्मसमर्पण का संकल्प ले लेने पर ये सब प्रक्रियाएं भगवान् की शक्ति के द्वारा, प्रकृति की एक महान् पद्धति के द्वारा क्रमशः कार्यान्वित होंगी। तुम्हारी ओर से जो कुछ करना अपरिहार्य है वह है अनुमति और स्मृति।

अपूर्ण समर्पण और अहंकार का खतरा

अहंकार हम पर या हमसे संबंधित वस्तुओं पर होनेवाले अन्य वस्तुओं के संबंध और प्रभाव को जीवन का मानदंड बनाकर द्वंद्वों को हमारे बंधन की जंजीर बना देता है। यह अहंकार हमारे जीवन और साधना के ऊपर जो क्रिया करता है उसके अनुसार वह तीन प्रकार का दिखायी देता है - राजसिक, तामसिक और सात्त्विक।

अहंकार पर कार्य करनेवाले प्रत्येक गुण का उस साधक के लिये विशेष-विशेष खतरा होता है जिसने आत्म-समर्पण का संकल्प तो किया है पर जो अभीतक उस समर्पण को पूर्ण रूप से जीवन में नहीं उतार सका है। रजोगुण से खतरा तब होता है जब साधक पर अभिमान का आक्रमण होता है और वह यह समझने लगता है कि ''मैं एक बहुत बड़ा साधक हूं, मैं इतना आगे बढ़ चुका हूं, मैं भगवान् के हाथ का एक महान् यंत्र हूं'', तथा ऐसे ही अन्य विचार उसके मन में उठने लगते हैं ; अथवा जब वह अपने कार्य में यह समझकर आसक्त हो जाता है कि यह भगवान् का कार्य है और उसे पूरा करना ही होगा और इस तरह उसमें अपने-आपको लगा देता है और उसके लिये इस तरह परेशान होता है मानों भगवान् के कार्य में उसे भगवान् से भी अधिक दिलचस्पी हो और वह भगवान् से भी अधिक अच्छाई के साथ उसे पूरा कर सकता हो। बहुत-से लोग जब कि राजसिक अहंकार के भाव से ही बराबर कार्य करते होते हैं, अपने-आपको यह समझा लेते हैं कि उनके द्वारा भगवान् कार्य कर रहे हैं और उस कार्य में उनका अपना कोई हाथ नहीं है। इसका कारण यह है कि वे अपनी समर्पण की भावना के विषय में केवल अपनी बुद्धि की स्वीकृति पाकर ही संतुष्ट हो जाते हैं और इस बात की प्रतीक्षा नहीं करते कि उनका सारा आधार और समस्त जीवन उस भावना से ओतप्रोत हो जाये। अतः यह आवश्यक है कि हमें इस बात की सतत स्मृति बनी रहे कि भगवान् दूसरों में भी हैं और हम व्यक्तिगत उत्सुकता (स्पृहा) का त्याग करते रहें तथा तबतक अपनी आंतरिक क्रियाओं का सावधानी के साथ निरीक्षण करते रहें जबतक भगवान् आत्मज्ञान के पूर्ण प्रकाश के द्वारा, ज्ञानदीपेन भास्वता, हमारे अंदर से आत्मप्रवंचना की सभी भावी संभावनाओं को दूर नहीं कर देते।

तमोगुण से दो प्रकार का खतरा होता है; एक तो तब होता है जब पुरूष अपने अंदर के तमस् के साथ एकाकार होकर यह समझने लगता है कि ''मैं दुर्बल हूं, पापी हूं, दुःखी हूं, अज्ञानी हूं, किसी काम का नहीं हूं, इस मनुष्य से हीन हूं और उस मनुष्य से हीन हूं, अधम हूं, मेरे द्वारा भगवान् क्या कर सकते हैं ?'' - मानों भगवान् अपने यंत्रों की क्षणिक योग्यताओं और अयोग्यताओं से सीमित हों और यह बात सत्य न हो कि वह मूक को भी वाचाल बना सकते है और पंगु को भी पर्वत लांघने की शक्ति दे सकते हैं, मूंक करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्। और दूसरा खतरा तब होता है जब साधक को एक प्रकार की निश्चिंतता का, एक प्रकार की अभावात्मक शांति से आनेवाली महान् निश्चिंतता का रस मिलता है, वह यह अनुभव करता है कि वह समस्त दुःखों से मुक्त हो गया है तथा शांति प्राप्त कर चुका है और इस कारण जीवन और कर्म से मुंह मोड़ लेता है और अकर्म की शांति और आराम से आसक्त हो जाता है। यह सदा स्मरण रखो कि तुम भी ब्रह्म हो

और दिव्य शक्ति तुम्हारे अंदर कार्य कर रही है; इस बात के लिये निरंतर प्रयास करो कि भगवान् की जो सर्वशक्तिमत्ता है तथा इस लीला में जो उनका आनंद है, उन दोनों की अनुभूतियां तुम्हें प्राप्त हों। भगवान् अर्जुन को, लोकसंग्रहार्थाय, लोक-संग्रह के लिये कर्म करने की आज्ञा देते हैं, क्योंकि वह नहीं चाहते कि यह संसार प्रकृति की जड़ता में डूब जाये, बल्कि वह इस बात पर जोर देते हैं कि तुम भी वैसे ही कर्म करो जैसे वह स्वयं कर्म करते हैं, उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्, यदि मैं कर्म न करता तो ये जगत् तमस् से अभिभूत हो जाते और प्रकृति में डूब जाते। अकर्म से आसक्त होने का अर्थ है अपने कर्म भगवान् को नहीं बल्कि अपने तामसिक अहंकार को अर्पित करना।

सत्त्वगुण से उस समय खतरा होता है जब साधक अपनी बुद्धि के किसी एकदेशीय निर्णय से, साधना की किसी विशिष्ट क्रिया से, योग की किसी विशेष सिद्धि के आनंद से (संभवतः पवित्रता की अनुभूति या किसी विशिष्ट शक्ति की प्राप्ति या भगवान् के संस्पर्श के आनंद या मुक्ति की अनुभूति से) आसक्त हो जाता है, केवल उसीके लिये भूखा रहता है, केवल उसीको चाहता है और दूसरी किसी वस्तु को नहीं चाहता। याद रखो कि यह योग तुम्हारे लिये नहीं है और यद्यपि ये सब चीजें सिद्धि के अंग हैं फिर भी ये सिद्धि के उद्देश्य नहीं हैं; कारण तुमने आरंभ में ही यह निश्चय किया है कि तुम भगवान् से कुछ भी नहीं मांगोगे, बल्कि जो कुछ वह तुम्हें अपनी मर्जी से देंगे वही तुम लोगे, और आंनद का जहांतक प्रश्न है, निःस्वार्थ जीव भगवान् के सात्रिध्य के आनंद का भी त्याग कर सकता है अगर भगवान् की वैसी ही इच्छा हो। तुम्हें उच्चतम सात्त्विक अहंकार से भी, मुमुक्षुत्व के सूक्ष्म अज्ञान से भी मुक्त होना होगा और समस्त सुख और आनंद को बिना आसक्ति के ग्रहण करना होगा। तभी तुम गीता के अनुसार सिद्ध या पूर्ण पुरूष हो सकते हो।

किस तरह इन दोनों बातों में सामंजस्य बैठाया जाये :-

(१) ''उद्धरेत् आत्मना आत्मानम् — आत्मा के द्वारा आत्मा का उद्धार करो।'' (गीता ६-५)

(२) ''सर्वधर्मान् परित्यज्य — सब धर्मों का त्याग कर ।'' (गीता १८-६६)

इन दोनों में कोई वास्तविक विरोध नहीं; ये दोनों वाक्यांश गीता की साधन-पद्धति के अंदर उसके योग की दो पृथक्-पृथक् गतियों को, अवस्थाओं को सूचित करते हैं जिनमें सबसे ऊंची अवस्था है पूर्ण आत्म-समर्पण। साधक को सबसेपहले अपनी निम्न प्रकृति को जीतना होता है, निम्न क्रियाओं में लिप्त अपने आत्मा को उस उच्चतर आत्मा के द्वारा मुक्त करना होता है जो उच्चतर आत्मा दिव्य प्रकृति के अंदर उठा होता है, दिव्य प्रकृति में अवस्थित होता है। फिर उसके साथ-ही-साथ साधक अपने सभी कर्मों को, अपने योग के आंतरिक कर्म तक को, यज्ञ के रूप में पुरूषोत्तम को, परात्पर और अंतःस्थित भगवान् को समर्पित करता है। जब साधक उच्चतर आत्मा में ऊपर उठ जाता है, ज्ञान प्राप्त कर लेता है और मुक्त हो जाता है, तब वह भगवान् को पूर्ण आत्मसमर्पण करता है, अन्य सभी धर्मों का त्याग कर देता है, एकमात्र

भागवत चेतना, भागवत संकल्प और शक्ति (चिच्छक्ति) और भागवत आनंद के सहारे जीवन यापन करता है।

हमारा योग ठीक गीता का ही योग नहीं है, यद्यपि इसमें वे सभी बाते मौजूद हैं जो गीता के योग में भी आवश्यक हैं। अपने योग में हम पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना, संकल्प और अभीप्सा से आरंभ करते हैं; परंतु साथ ही हमें निम्न प्रकृति का बहिष्कार करना पड़ता है, उससे अपनी चेतना को मुक्त करना होता है, निम्न प्रकृति में आबद्ध आत्मा को उच्चतर प्रकृति में स्वतंत्र होते हुए आत्मा के द्वारा मुक्त करना होता है। यदि हम इस द्विविध कार्य को न करें तो हमारे लिये यह खतरा रह सकता है कि हमारा समर्पण तामसिक हो जाये और इसलिये सच्चा समर्पण न हो, हम कोई प्रयास न करें, तपस् से दूर रहें और इसलिये कोई उन्नति न करें; अथवा हम भगवान् को नहीं, बल्कि किसी अपने ही बनाये हुए एक ऐसे भगवान्-संबंधी झूठे विचार को या भगवान् की मूर्ति को राजसिक समर्पण कर दें जो हमारे राजसिक अहंकार को अथवा उससे भी कहीं अधिक बुरी किसी चीज को अपने अंदर छुपाये रहती है।

समर्पण और कृपा

जीवनमें सब प्रकारके भय, संकट और और विनाशसे बच कर चलनेके लिये दो ही चीजोंकी आवश्यकता है, दो चीजें जो सदा साथ रहती हैं - एक तो मां भगवतीकी कृपा और दूसरी तुम्हारी ओरसे एक ऐसी अन्तःस्थिति जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पणसे पूर्ण हो। तुम्हारी श्रद्धा विशुद्ध, निश्छल और पूर्ण होनी चाहिये। मन और प्राणकी ऐसी अहंकार-भरी श्रद्धा जो महत्त्वाकांक्षा, अभिमान, दंभ, मानसिक अहंकार, प्राणकी स्वेच्छाचारिता, वैयक्तिक मांग और निम्न प्रकृ- तिकी क्षुद्र तृप्तियोंकि इच्छासे कलुषित हो, एक मंद और धुएसे ढकी अग्निशिखाके समान है जो स्वर्गकी ओर नहीं जल सकती। अपने जीवनको ऐसा समझो कि वह तुम्हें केवल भागवत कर्मके लिये और भगवान्की अभिव्यक्तिमें सहायता देनेके लिये मिला है। और किसी चीजकी इच्छा मत करो, चाहो केवल भागवत चैतन्यकी विशुद्धता, शक्ति, ज्योति, विशालता, स्थिरता और आनन्द, और उसका यह तकाजा कि उसके द्वारा तुम्हारा मन, प्राण, शरीर रूपांतरित हो। और कुछ न चाहो, चाहो केवल दिव्य आध्यात्मिक और अतिमानसिक 'सत्य', चाहो उस सत्यकी सिद्धि पृथ्वीपर और अपने अंदर और उन सब के अंदर जो इसके लिये बुलाये और चुने गये हैं। उन परिस्थितियोंको चाहो जो इस 'सत्य' की सृष्टिके लिये आवश्यक हैं और चाहो सारी विरोधी शक्तियोंपर 'सत्य' की विजय।

तुम्हारी निष्ठा और तुम्हारा समर्पण सच्चे और संपूर्ण हों। जब अपने-आपको दे रहे हो तो पूरी तरह दो बिना किसी मांगके, बिना किसी शर्तके, बिना किसी संकोचके दो, ताकि तुम्हारे अन्दर जो कुछ है, वह सब मां भगवतीका हो और कुछ भी अंहके लिये या अन्य किसी भी शक्तिको देनेके लिये शेष न रह जाय।

तुम्हारी श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण जितने अधिक पूर्ण होंगे भगवती माताकी कृपा और अभय भी उतने ही अधिक तुम्हारी साथ होंगे। और जब भगवती माताकी कृपा और अभयहस्त तुमपर हैं तो फिर कौन-सी चीज है जो तुम्हें स्पर्श कर सके और जिसका तुम्हें भय हो ? इसकी एक छोटी-सी मात्रा भी तुम्हें

सब कठिनाईयों, बाधाओं और संकटोंके पार ले जायगी, इसकी पूर्ण उपस्थितिसे घिरकर तुम अपने रास्तेपर सुरक्षित आगे बढ़ सकते हो। क्योंकि यह मार्ग मांका है, किसी भी संकटकी परवाह किये बिना, किसी भी शत्रुतासे प्रभावित हुए बिना, चाहे वह कितनी ही शक्तिशाली क्यों न हो, चाहे वह इस जगत्‌की हो या अन्य अदृश्य जगतों की। इसका कृपा-स्पर्श कठिनाईको सुअवसरमें, हारको जीतमें, और दुर्बलताको अडिग शक्तिमें परिणत कर देता हैं। क्योंकि, मां भगवतीकी कृपा परमेंश्वरकी अनुमति है और आज हो या कल उसका प्रभाव निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट है, अवश्यंभावी है और अनिवार्य है।

सच्चा समर्पण

दो शक्तियां हैं जिनके संयोगसे ही वह महान् और कठिन कार्य पूरा हो सकता है जो हमारी साधनाका लक्ष्य है। एक है नीचेसे पुकारनेवाली दृढ़ और अटूट अभीप्सा और दूसरी है ऊपरसे उसका उत्तर देनेवाली परम 'कृपा'। किंतु परम 'कृपा' केवल 'प्रकाश' और 'सत्य' की अवस्थाओंमें ही कार्य करेगी ; 'असत्य' और 'अज्ञान' द्वारा लादी हुई अवस्थाओंमें नहीं। क्योंकि यदि वह असत्यकी मांगोंके सामने झुक जाये तो वह अपने उद्देश्यको ही पराजित कर देगी। ये हैं 'प्रकाश' और 'सत्य' की अवस्थाएं व शर्तें, एकमात्र वे अवस्थाएं जिनमें उच्चतम 'शक्ति' नीचे उतरेगी ; और केवल वह उच्चतम अतिमानसिक 'शक्ति' ही, ऊपरसे उतरकर और नीचेसे खुलकर इस भौतिक प्रकृतिकी कठिनाइयोंको नष्ट कर सकती हैं, उसे जीतकर अपने हाथोंमे ले सकती हैं . . . । होना चाहिये पूरा, और सच्चा समर्पण, होना चाहिये भगवान्‌की 'शक्ति' की ओर अपने को अनन्य रूपसे खोलना ; जो 'सत्य' ऊपरसे उतर रहा है उसे हर क्षण पूरी तरह अपनाना चाहिये, पार्थिव प्रकृतिपर मन, प्राण और देहकी जिन 'शक्तियों' और 'रूपों' का शासन चल रहा है उनके मिथ्यापनको हर क्षण पूरी तरह नकार ना चाहिये।

यह समर्पण संपूर्ण और सत्ताके अंग-प्रत्यंगको लिये हुए होना चाहिये। इतना ही काफी नहीं है कि हृत्पुरूष स्वीकार कर ले, उसके साथ मनका उच्चतर भाग मान ले, अन्तःप्राण अधीन हो जाय और देहकी अंदरकी चेतना भी उसका प्रभाव अनुभव करे, वरन् सत्ताके किसी हिस्सेमें, यहांतक कि बाहरी-से-बाहरी अंगमें भी कोई ऐसी चीज नहीं होनी चाहिये जिसे किसी प्रकारका कोई संकोच हो, जो किसी संशय, अस्पष्टता और छल-कपटके पीछे छिपी हो, जो विद्रोह करती हो, या इंकार करती हो।

यदि सत्ताका एक भाग तो समर्पण करे लेकिन दुसरा अपनेको रोके ले, अपने ही रास्ते चले या अपनी ही शर्तें रखे, तो समझ लो कि, जब-जब ऐसा होता है तब-तब तुम अपने-आप ही भागवत 'कृपा' को अपने पाससे दूर हटा रहे हो।

यदि तुम अपनी भक्ति और समर्पणके पीछे अपनी इच्छाओंको, अहंकारकी मांगोको, प्राणके हठोंको छिपाओ, यदितुम इन चीजोंको सच्ची अभीप्साके स्थानपर ला बिठाओ या इन्हें सच्ची अभीप्साके साथ मिला दो और इन्हें भगवती 'शक्ति' पर लादना चाहो तो रूपांतर करनेके लिये तुम्हारा भागवत 'कृपा' का आवाहन करना बेकार है।

यदि एक ओरसे या एक भागमें तुम अपने-आपको 'सत्य' के लिये खोलते हो और दूसरी ओरके दरवाजें लगातार विरोधी शक्तियों के लिये, खोलते जाते हो तो यह आशा व्यर्थ है कि भागवत 'कृपा' तुम्हारा साथ देगी। तुम्हें अपना मन्दिर स्वच्छ रखना होगा, यदि तुम उसमें भगवान्‌की सजीव रूपसे प्रतिष्ठा करना चाहते हो। यदि जब-जब 'शक्ति' आये और 'सत्य' को अपने अंदर लाये, तब-तब तुम उसकी ओरसे पीठ फेर लो, और फिरसे, निकाले हुए असत्यको बुला लो, तो तुम भागवत 'कृपा' को सहायता न देनेका दोष नहीं दे सकते। इसमें दोष है तुम्हारे अपने संकल्पके मिथ्याचारका, तुम्हारे अपने समर्पणकी कमियोंका।

यदि तुम 'सत्य' के लिये पुकार करते हो और फिर भी तुम्हारे अन्दर कोई चीज असत्य, अज्ञान और अभागवतका वरण करती है या जो इन्हें पूरी तरह छोड़ना नहीं चाहती, तो सदा तुम्हारे ऊपर आक्रमणका मार्ग खुला रहेगा और भागवत 'कृपा' तुमसे पीछे हट जायगी। पहले यह ढूंढ निकालो कि तुम्हारे अन्दर क्या मिथ्या है, क्या अंधकारमय है, फिर दृढ़तासे उसे निकाल फेंको। केवल तभी तुम रूपांतरके लिये भगवान्‌की 'शक्ति' को पुकारनेके अधिकारी बनोगे।

यह कल्पना न करो कि भगवान्‌को निवेदित किये गये घरमें सत्य और असत्य, प्रकाश और अंधकार, समर्पण और स्वार्थ साथ-साथ रहने दिये जायेंगे। रूपांतर सर्वांगीण होना चाहिये, अतः उसके मार्गमें आनेवाली बाधाओंका त्याग भी सर्वागीण होना चाहिये। यह मिथ्या धारणा त्याग दो कि तुम चाहे भगवान्‌की शर्तोंका पालन न भी करो तो भी भागवती 'शक्ति' तुम्हारे लिये, तुम्हारी मांगके अनुसार सब कुछ करनेके लिये बाधित है। अपने समर्पण को सच्चा और संपूर्ण करो तभी तुम्हारे लिये बाकी सब कुछ किया जायगा।

यह मिथ्या और आलस्य-भरी आशा भी त्याग दो कि भागवती 'शक्ति' ही तुम्हारे लिये समर्पण भी कर देगी। भगवान् भागवती 'शक्ति' के प्रति तुम्हारा समर्पण मांगते हैं, उसे तुमपर लादते नहीं। तुम हर पल स्वतंत्र हो, जबतक अटल रूपांतर न हो जाय तब तक तुम भगवान्‌को स्वीकार करने, उनका त्याग करने और अपने आत्मदानको वापस ले लेनेके लिये स्वतंत्र हो - बशर्ते कि तुम उसका आध्यात्मिक फल भोगनेके लिये भी तैयार हो। तुम्हारा समर्पण अपनी इच्छासे और मुक्त भावसे होना चाहिये ; वह एक जीवित सत्ताका समर्पण होना चाहिये, निर्जीव कठपुतली या पराधीन यंत्र का नहीं।

तामसिक निश्चेष्टताको ही सच्चा समर्पण मान लेनेकी भूल हमेशा ही हुआ करती है, किंतु तामसिक निश्चेष्टतासे किसी सत्य और सशक्त वस्तुका उद्‌भव नहीं हो सकता। भौतिक प्रकृति अपनी तामसिक निश्चेष्टताके कारण ही हर अंधकारपूर्ण या अदिव्य प्रभाव का शिकार बना करती है। 'भागवती शक्ति' की क्रियाके प्रति प्रसन्न, सशक्त और सहायक अधीनता चाहिये, 'सत्य' के ज्ञानसे दीप्त अनुयायीकी, अंधकार और असत्यसे लड़नेवाले आन्तर 'योद्धा' की और भगवान्‌के सच्चे सेवककी आज्ञाकारिता चाहिये।

क्या समर्पण और बलिदान एक ही नहीं हैं ?

हमारे योगमें बलिदानके लिये कोई स्थान नहीं है। परन्तु सब कुछ इसपर हमारे योगमें बलिदान शब्दका क्या अर्थ करते हो। उसके विशुद्ध भावके अनुसार इसका अर्थ है पवित्र उत्सर्ग, भगवान्‌के प्रति अर्पणद्वारा पवित्रीकरण। परन्तु आजकलके अनुसार बलिदान ऐसी वस्तु है जो विनाशके लिये प्रवृत्त है; यह अपने साथ एक अभावात्मक वातावरण लिये हुए है। इस प्रकारका बलिदान यज्ञ नहीं है, यह तो आत्मवंचना है आत्मवध है। तुम अपनी संभावनाओंका, अपने व्यक्तित्वकी अत्यंत जड़-प्राकृतिक भूमिका से लेकर अत्यंत आध्यात्मिक भूमिकाओं तककी संभावनाओं और सिद्धियोंका बलिदान करते हो। बलिदान तुम्हारी सत्ताको क्षीण करता है। भौतिकरूपसे, यदि तुम अपने जीवनका, अपने शरीरका बलिदान करते हो तो तुम पार्थिव भूमिका पर की अपनी समस्त संभावनाओंको त्याग देते हो; तुम अपने पार्थिव जीवनकी सफलताओंसे हाथ धो लेते हो। इसी प्रकार नैतिक दृष्टिसे तुम अपने जीवनकी बलि दे सकते हो; तुम अपने आन्तरिक जीवनकी विशालता और स्वतंत्र चरितार्थताको त्याग देते हो। आत्मबलि की इस भावनाके अन्दर सदा ही एक प्रकारके बलात्कारका, किसी तरहकी बनावटका, किसी अध्यारोपित आत्म-त्यागका भाव रहता है। यह एक ऐसा आदर्श है जो आत्माकी गंभीरतर और विशालतर स्वतःस्फूर्तियोंको कोई स्थान नहीं देता। समर्पणसे हमारा ऐसा आशय नहीं, बल्कि स्वतःस्फूर्त आत्मदानसे है, अपने-आपको पूरी तरह भगवान्‌को, एक ऐसी उच्चतर चेतनाको दे देना जिसके तुम एक अंग हो। समर्पण तुम्हारा ह्रास नहीं करेगा, बल्कि तुम्हारी वृद्धि करेगा, वह तुम्हारे व्यक्तित्वको घटायेगा नहीं, न उसे दुर्बल करेगा, न उसका नाश ही करेगा, बल्कि वह उसको सुदृढ़ बनायेगा, उसका उत्कर्ष करेगा। समर्पणका अर्थ है देनेके पूर्ण आनन्दके साथ मुक्त भावसे और पूर्ण रूपसे देना, इसमें बलिदानका कोई भाव नहीं है। यदि तुममें जरा-सा भी ऐसा भाव होता है कि तुम बलिदान कर रहे हो तो फिर वह समर्पण नहीं रहता।

❁

क्या एक उत्तम सेवककी तरह अपना कर्म निवेदित करना समर्पण नहीं कहलाता ?

कार्य एक अच्छी साधना है। परंतु यह वह भावना नहीं है, वह कोई निष्क्रिय, अचेतन और प्रायः अनैच्छिक अधीनता-की भावना नहीं है। यह वह चीज नहीं है। यह चीज केवल कर्ममें नहीं पायी जाती।

अत्यंत महत्त्वपूर्ण समर्पण है तुम्हारे चरित्रका, तुम्हारी जीवन-विधिका समर्पण ताकि वह बदल सके। तुम्हारी जो एकदम अपनी प्रकृति है यदि तुम उसका समर्पण न करो तो यह प्रकृति कभी परिवर्तित नहीं होगी। बस, यही चीज है जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। तुम किन्हीं विशेष तरीकोंसे समझते हो, विशेष ढंगोंसे प्रतिक्रिया करते हो, विशेष रूपोंमें अनुभव करते हो, लगभग विशेष रीतियोंसे प्रगति करते हो, और सबसे बढ़कर, एक विशेष दृष्टिसे जीवनकी ओर दृष्टिपात करते और उससे विशेष वस्तुओंकी आशा करते हो — हां, बस इसे ही तुम्हें समर्पित करना होगा। कहनेका मतलब, यदि तुम वास्तवमें दिव्य 'ज्योति' पाना और रूपांतरित होना चाहते हो तो तुम्हें अपनी सत्ता और जीवनके पूरे तौर-तरीकेको अर्पित कर देना होगा — उसे उद्‌घाटित करके, यथासाध्य अधिक-से-अधिक ग्रहणशील बनाकर अर्पित करना होगा ताकि दिव्य 'चेतना'

जो यह देखती है कि तुम्हें कैसा होना चाहिये, सीधे रूपमें कार्य कर सके और इन समस्त क्रियाओंको अधिक सत्य क्रियाओंमें, तुम्हारे यथार्थ सत्यके साथ अधिक संगत क्रियाओंमे परिवर्तित कर सके। यह बात अपने कर्मोंको समर्पित करनेकी अपेक्षा अनंतगुना अधिक आवश्यक है। सच पूछा जाय तो मनुष्य तो कुछ करता है (वह जो कुछ करता है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है यह तो स्पष्ट ही है) वह नहीं, बल्कि अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह क्या है। कार्य-कलाप चाहे जो हो, वास्तवमें कार्य जिस तरह किया जाता है वह नहीं, बल्कि चेतना की जिस स्थितिमें वह किया जाता है वह महत्त्वपूर्ण है। तुम काम कर सकते हो, व्यक्तिगत लाभकी किसी भावनासे रहित होकर निष्काम कर्म कर सकते हो, कार्य करनेके आनंदके लिये कार्य कर सकते हो, परंतु यदि तुम उसके साथ-ही-साथ उस कर्मको छोड़ने के लिये, कर्म को बदलनेके लिये अथवा कर्मकी विधिको बदलनेके लिये तैयार न होओ, यदि तुम अपनी ही कर्म-पद्धतिसे चिपके रहो, तो तुम्हारा समर्पण पूर्ण नहीं है। तुम्हें एक ऐसी स्थितिमें आना होगा जिसमें प्रत्येक चीज इसलिये की जाती है कि तुम अपने भीतर, बहुत स्पष्ट रूपमें, अधिकाधिक अत्यावश्यक रूपसे यह अनुभव करो कि बस यह चीज है जो की जानी चाहिये और इसी विशिष्ट पद्धतिसे की जानी चाहिये और तुम उसे केवल उसके कारण ही करते हो। तुम किसी आदत, आसक्ति या पसंदगीके कारण, या यहांतक कि किसी धारणाके वश, यहांतक कि इस भावनाकी वरीयताके वश कि बस यही करने योग्य सबसे उत्तम चीज है, उसे नहीं करते,—अन्यथा तुम्हारा समर्पण सर्वांगपूर्ण नहीं है। जबतक तुम किसी चीजसे चिपके रहते हो, जबतक तुम्हारे अंदर कोई चीज ऐसी है जो कहती है, ''यह परिवर्तित हो सकता है, वह परिवर्तित हो सकता है, पर वह, वह परिवर्तित नहीं होगा'' जबतक तुम एकदम किसी भी वस्तुके लिये यह कहते हो, ''वह नहीं परिवर्तित होगी'' (इसलिये नहीं कि वह परिवर्तित होनेसे इंकार करती है, बल्कि इसलिये कि तुम उसके परिवर्तनकी बात सोच ही नहीं सकते), तुम्हारा समर्पण पूर्ण नहीं है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि अपने कार्योंमें, अपने कर्ममें, तुम्हें तनिक भी यह अनुभव होता है कि ''मैं इसे इसलिये कर रहा हूं कि इसे करनेके लिये मुझसे कहा गया है,'' और उसमें तुम्हारी सत्ताकी पूर्ण निष्ठा नहीं है, और तुम उस कार्यको इसलिये नहीं करते कि तुम अनुभव करते हो कि उसे करना ही चाहिये और तुम उसे करना पसंद करते हो ; यदि कोई चीज पीछे रह जाती है, अलग, पृथक् खड़ी हो जाती है और कहती है: ''मुझसे कहा गया था कि इसे इस भांति करना होगा इसलिये मैंने इसे इस भांति किया,'' इसका मतलब है कि तुम्हारे और तुम्हारे समर्पणके बीच एक बहुत बड़ी खाई है। सच्चे समर्पणका तात्पर्य है यह अनुभव करना कि इस पूर्ण आंतरिक समर्थनको तुम चाहते हो, तुम अपने अंदर बनाये हुए हो, जो कुछ तुम्हें करनेको दिया गया है उसके सिवा तुम और कुछ नहीं कर सकते, और जो कुछ तुम्हें करनेके लिये नहीं दिया गया है उसे तुम कर ही नहीं सकते। परंतु दूसरे ही क्षण काम बदल सकता है ; किसी भी मुहूर्त्त वह वह कोई दूसरी ही चीज हो सकता है, यदि यह निश्यच किया गया हो कि वह कोई अन्य चीज हो। बस, यही पर आती है नमनीयताकी बात। उससे बहुत बड़ा अंतर आ जाता है। यह खूब परिचित बात है कि जो काम करते हैं उनसे कहा जाता है, ''हां, कर्म करो, वही तुम्हारे समर्पणका पथ है,'' पर यह प्रारंभ मात्र है। इस पथको क्रमवर्द्धमान होना होगा। यह केवल प्रारंभ है, तुमने समझा?

कहा गया है कि योगमें प्रगति करनेके लिये साधकको अपने जीवनकी छोटी-से-छोटी चीज और अपनी छोटी-से-छोटी क्रिया भी भगवान्‌को समर्पित कर देनी चाहिये। इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है ?

योगका अर्थ है भगवान्‌से एकता, और यह एकता आत्मोत्सर्गद्वारा आती है - इसका आधार है अपने-आपको भगवान्‌के हाथों में दे देना। आरंभ में तुम साधारण रूपसे अपने-आपको देना शुरू करते हो मानों सदाके लिये तुम्हारा यह काम पूरा हो गया। तुम कहते हो : ''मैं भगवान्‌का सेवक हूं, मेरा जीवन पूर्ण रूपसे भगवान्‌को दिया गया है, मेरे सब प्रयत्न दिव्य जीवनकी प्राप्तिके लिये हैं।'' पर यह तो केवल पहला कदम है ; केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। इस संकल्पके बाद भी, इस निश्चयके बाद भी कि तुम अपने समग्र जीवनको भगवान्‌के अर्पण कर दोगे, तुम्हें यह बात अपने जीवनमें प्रत्येक क्षण याद रखनी होगी और इसे अपने प्रत्येक व्योरेमें चरितार्थ करना होगा। तुम्हें प्रत्येक पगपर यह अनुभव होना चाहिये कि तुम भगवान्‌के हो, तुम्हें हमेशा यह अनुभूति होनी चाहिये कि तुम जो कुछ सोचते या करते हो, उसमें हमेशा भागवत चेतना ही तुम्हारे द्वारा कार्य करती है। तुम्हारे पास ऐसी कोई चीज न होनी चाहिये जिसे तुम अपना कह सको, जो कुछ तुम्हारे पास आये उसे भगवान्‌के यहांसे आया हुआ अनुभव करो और उसे उसके मूल स्त्रोतकी भेंट कर दो। इस अनुभूतिको प्राप्त कर लेनेपर अत्यंत सामान्य-से-सामान्य चीज जिसपर तुम ध्यान नहीं देते या जिसकी साधारणतः परवाह नहीं करते, वह भी अकिंचन या तुच्छ नहीं रह जाती, वह अर्थपूर्ण हो जाती है और तुम्हारी दृष्टिके सामने दूरतक देख सकनेके लिये एक विशाल क्षितिज खोल देती है।

सामान्य अर्पणको व्योरेवार अर्पणका रूप देनेके लिये तुम्हें यह करना है। भगवान्‌की उपस्थितिमें ही निरंतर निवास करो; तुम अनुभव करो कि वह उपस्थिति ही तुम्हें परिचालित कर रही है और जो कुछ तुम करते हो उसे वही कर रही है । अपनी समस्त गतिविधिको तुम इसीके प्रति अर्पण करो, केवल प्रत्येक मानसिक क्रिया, प्रत्येक विचार और भाव ही नहीं, बल्कि अत्यंत साधारण और बाह्य क्रियाओंको भी जैसे कि भोजन करना; जब तुम भोजन करो तो तुम्हें यह अनुभव होना चाहिये कि ये भगवान् ही हैं जो तुम्हारे द्वारा भोग लगा रहे हैं। इस प्रकार जब तुम अपनी समस्त प्रवृत्तियोंको 'एक जीवन' में पिरो लोगे, तो तुम्हारे अन्दर विभाजन के स्थानपर अखण्ड एकता स्थापित हो जायगी। तब यह अवस्था नहीं रहेगी कि तुम्हारी प्रकृतिका एक भाग तो भगवान्‌के अर्पित हो और बाकी भाग अपनी साधारण वृत्तियोंमें पड़े रहें और साधारण चीजोंमें लिप्त रहें; बल्कि तब तुम्हारे संपूर्ण जीवनको भगवान् अपने हाथमें ले लेंगे और तुम्हारी प्रकृतिका संपूर्ण रूपांतर क्रमशः साधित होता रहेगा।

संकल्प और समर्पण

समर्पण-मार्ग में प्रशिक्षण या तपस्याका क्या स्थान है ? यदि कोई समर्पण करता है तो क्या उसका काम तपस्याके बिना नहीं चल सकता ? क्या तपस्या कभी-कभी बाधक नहीं होती ?

हो सकता है। परंतु तपस्या या विकास साधना करनेकी पद्धति और संकल्पूर्वक कर्मके बीचमें भेद करना

चाहिये। तपस्या और चीज है; मैं संकल्प पूर्वक कर्मकी बात कह रही हूं। यदि तुम समर्पण करते हो तो तुम्हें प्रयास छोड़ देना होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हें संकल्पपूर्वक कर्म भी त्याग देना चाहिये। इसके विपरीत, यदि तुम अपना संकल्प भगवान्‌के संकल्पको दे दो तो सिद्धिका काम तेज हो सकता है। यह भी एक और रूपमें समर्पण ही है। तुमसे जिस चीजकी अपेक्षा की जाती है वह निष्क्रिय समर्पण नहीं है जिसमें तुम जड़-पत्थरकी तरह हो जाओ, बल्कि अपेक्षा यह की जाती है तुम अपने संकल्पको भगवान्‌के अधीन कर दो।

★

परंतु जबतक भगवान्‌के साथ हमारा योग नहीं हो जाता, तबतक यह कैसे किया जा सकता है ?

तुम्हारे अंदर संकल्प तो होता ही है, तुम उस संकल्पको भगवान्‌को अर्पण कर सकते हो। रातको सचेतन रहनेके उदाहरणको ही ले लो। यदि तुम निष्क्रिय समर्पण भाव रखो, तो तुम कहोगे : ''जब भगवान्‌की इच्छा होगी कि मैं सचेतन होऊं, तभी मैं सचेतन होऊंगा।'' दूसरी ओर, यदि तुम अपने संकल्पको भगवान्‌को अर्पण कर दो तो तुम संकल्प करना आरंभ कर दोगे और कहोगे : ''मैं अपने रात्रिकालसे सचेतन होऊंगा।'' तुम संकल्प करते हो कि ऐसा होना चाहिये, प्रतीक्षा करते हुए चुपचाप नहीं बैठ जाते। इस क्रियामें समर्पणका भाव तब आता है जब तुम यह भाव धारण करते और कहते हो : ''मैं अपने संकल्पको भगवान्‌के अर्पण करता हूं, मेरी तीव्र इच्छा है कि मैं अपने रात्रिकालसे सचेतन होऊं, मेरे अंदर ज्ञान नहीं है, भगवान्‌का संकल्प मेरे लिये इस कामको पूरा करे।'' तुम्हारे संकल्प को किसी विशेष कार्यका चुनाव करनेके लिये या किसी विशिष्ट उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये नहीं, बल्कि एक तीव्र अभीप्साके रूपमें, जो अंतिम लक्ष्यकी प्राप्तिपर केंद्रित हो, स्थिरतापूर्वक कार्य करते जाना चाहिये। यह पहली सीढ़ी है। यदि तुम सतर्क हो, यदि तुम्हारी दृष्टि सावधान है तो तुम्हें ''जो करना चाहिये'' उसकी प्रेरणा किसी-न-किसी रूपमें अवश्य मिल जायगी और तुम्हें तत्काल उसके अनुसार कार्य करने लग जाना चाहिये। हां, एक बाात याद रखनी चाहिये, समर्पणका अर्थ है कर्मोंका जो भी फल हो उसे स्वीकार करना, फिर चाहे वह तुम्हारी आशाके सर्वथा विपरीत ही क्यों न हो। दूसरी ओर, यदि तुम्हारा समर्पण निष्क्रिय है तो तुम कुछ नहीं करोगे, किसी प्रकारका प्रयत्न नहीं करोगे, बल्कि मौजसे सो जाओगे और किसी चमत्कारकी प्रतीक्षा करोगे। यह जाननेके लिये कि तुम्हारी इच्छा या संकल्पका भगवान्‌के संकल्पके साथ मेल है या नहीं, तुम को देखना चाहिये कि मन, प्राण या शरीर से नहीं अपितु गहराई में, अपनी आंतर सत्ता में, हृदय में हमेशा रहने वाली अपनी सत्ता से कोई उत्तर मिलता है या नहीं, तुम अपनी इच्छा का समर्थन पाते हो या विरोध।

★

''यदि तुम भगवान्‌के आदेशका अनुसरण करनेके लिये तैयार हो तो तुम्हें जो भी कार्य दिया जाय उसे, यहांतक कि किसी बहुत बड़े कामको भी ग्रहण करनेमें सक्षम होना चाहिये और दूसरे दिन उसी शांतिके साथ, जिसके साथ तुमने उसे ग्रहण किया था, उसे छोड़ देना चाहिये और यह नहीं अनुभव करना चाहिये कि जिम्मेंदारी तुम्हारी है। तुम्हारे अंदर किसी वस्तु या जीवनकी किसी विधिके

प्रति कोई आसक्ति नहीं होनी चाहिये। तुम्हें पूर्णतः मुक्त होना चाहिये।''

- वर्तालाप (१९२९)

मैं चाहती हूं कि कोई व्यक्ति मुझे याह बताये कि वह ''पूर्णतः मुक्त होने'' का क्या अर्थ समझता है, क्योंकि यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। मैं तुम्हें इसका कारण बताऊंगी।

अधिकांश लोग मुक्तिको स्वेच्छाचारिताके साथ मिला-जुला देते हैं। साधारण मनके लिये मुक्त होने अर्थ है किसी व्यक्तिके हस्तक्षेपके बिना अपनी पसंदकी प्रत्येक मूर्खता करनेका सुअवसर प्राप्त करना। मैं कहती हूं कि मनुष्यको ''पूर्णतः मुक्त'' होना चाहिये, पर यह एक बहुत खतरनाक सलाह है यदि कोई इन शब्दोंका अर्थ न समझे तो। मुक्त किस चीजसे ? -स्पष्ट ही, आसक्तियोंसे। यही ठीक-ठीक उसका अर्थ हैं। यही है बुद्धका वह आख्यान जिसमें वह सभी कलाओंमें निष्णात नवयुवकको उत्तर देते हैं, ''मैं आत्मसंयमकी कलाका एक विशेषज्ञ हूं। यदि मनुष्य मेरा अभिनंदन या मेरी प्रशंसा करते हैं तो मैं स्थिर और उदासीन बना रहता हूं। यदि वे मेरी निन्दा करते हैं तो उस समय भी उसी तरह स्थिर और उदासीन बना रहता हूं।''

तब यह देखनेके लिये अपने-आपसे प्रश्न करनेकी कोशिश करो कि तुम किस हदतक समस्त निंदा और प्रशंसासे ऊपर हो। यह नहीं कि तुम्हें अपनेको दूसरोंसे इतना श्रेष्ठ अनुभव करना चाहिये कि वे जो कुछ कहें वह तुम्हारे लिये किसी महत्त्वका न प्रतीत हो, ऐसी बात नहीं है। बात यह है कि अब तुम अज्ञानकी सामान्य अवस्थासे, अपने अज्ञानसे भी, अवगत हो गये हो और जब दूसरे यह विश्वास करते हैं कि कोई वस्तु अच्छी है तो तुम जानते हो कि ''वह उतनी अच्छी नहीं है'', और जब वे विश्वास करते हैं कि वह बुरी है तो तुम कह सकते हो कि ''वह उतनी बुरी नहीं है।'' प्रत्येक चीज पूर्ण रूपसे मिली-जुली है और अंतमें कोई व्यक्ति किसी व्यक्तिका विचार नहीं कर सकता। अतएव तुम सब प्रकारकी प्रशंसा और निंदाके प्रति पूर्णतः उदासीन हो जाते हो। और अंतिम निष्कर्ष होगाः जबतक मेरे अंदर या जिस व्यक्तिको मैंने अपना गुरू चुना है उसमें विद्यमान दिव्य चेतना मुझसे यह नहीं कहती कि ''इसे करना चाहिये,'' ''इसे नहीं करना चाहिये,'' तबतक दूसरे जो कुछ मुझसे कहें उससे मैं उदासीन रहूंगा। क्योंकि मैं समझता हूं कि जिस व्यक्तिपर मैंने विश्वास किया है उसमें विद्यमान दिव्य उपस्थिति यह समझनेमें समर्थ है कि क्या अच्छा है और क्या बुरा, क्या करने योग्य है और क्या करने योग्य नहीं है।

और यही है मुक्त होनेका सर्वोतम पथ। भगवान्‌के प्रति अपने समर्पणको संपूर्ण बनाओ और तुम पूर्ण रूपसे मुक्त हो जाओगे।

यथार्थमें मुक्त होनेका एकमात्र मार्ग है भगवान्‌के प्रति अपने समर्पणको, बिना कुछ बचाये, पूर्ण बनाना, क्योंकि तब जो कुछ तुम्हें बांधता है, तुम्हें नीचे बांधे रखता है, तुम्हें कैद रखता है, वह सब स्वाभाविक रूपमें तुमसे झड़ जाता है और अब उसका कोई महत्त्व नहीं होता। यदि कोई तुम्हारे पास आता और तुम्हारी निंदा है तो तुम कह सकते हो, '' किस अधिकारसे वह मुझे दोष देता है, क्या वह परात्पर संकल्पको जानता है ? '' और वही बात उस समय भी कहते हो जब कोई तुम्हारा अभिनंदन करता है। यह

बात तुम्हें यह सलाह देनेके लिये नहीं है कि दुसरोंसे जो कुछ तुम्हारे पास आता है उससे तुम लाभ न उठाओ - मैंने अपने सारे जीवन यह सीखा है कि एक छोटा बच्चा भी तुम्हें पाठ सिखा सकता है। यह बात नहीं कि वह तुमसे कम अज्ञानी है बल्कि वह एक आईने के समान है जो, तुम जो कुछ हो उसकी प्रतिमूर्ति प्रतिबिंबित करता है। वह तुमसे कोई ऐसी बात कह सकता है जो सही नहीं है पर वह तुम्हें कोई ऐसी चीज भी दिखा सकता है जिसे तुम नहीं जानते थे। अतएव तुम उससे बहुत अधिक लाभ उठा सकते हो यदि तुम बिना किसी अवांछित प्रतिक्रियाके पाठको ग्रहण करो।

अपने जीवनके प्रत्येक क्षण मैंने यह सीखा है कि मनुष्य कुछ-न-कुछ सीख सकता है परंतु मैंने कभी अपनेको दूसरोंके मतसे आबद्ध नहीं अनुभव किया ; क्योंकि मैं समझती हूं कि संसारमें मात्र एक ही सत्य है जो कोई चीज समझ सकता है, और वह है 'परात्पर सत्य'। तब हम बिल्कुल मुक्त हो जाते हैं। और यहि है वह मुक्तावस्था जिसकी मैं तुमसे आशा करती हूं –समस्त आसक्ति, समस्त अज्ञान, समस्त प्रतिक्रियासे मुक्ति; भगवान्‌के प्रति संपूर्ण समपर्णके अतिरिक्त बाकी सभी चीजोंसे मुक्ति। बस, यही तरीका है जिससे संसारके प्रति समस्त उत्तरदायित्वसे छुटकारा मिल सकता है। एकमात्र भगवान् ही उत्तरदायी हैं।

❁

अपनी प्रकृतिके दुराग्रही अंगोको समर्पणके लिये कैसे राजी किया जाय ?

यदि कोई बच्चा समझता नहीं है तो उसे जिस भांति समझाते हो ठीक उसी भांति उन्हें भी सब प्रकारके साधनोंके द्वारा, चित्रों, व्याख्याओं, प्रतीकोंके द्वारा समझानेका प्रयत्न करो। उन्हें सत्ताके अन्य अंगोंके साथ ऐक्य तथा सामंजस्य रखनेकी आवश्यकता समझाओ; उनके साथ तर्क-वितर्क करो, उन्हें अपने कर्म और उनके फलोंके बारेमें सचेतन करनेका प्रयत्न करो। सबसे बड़ी बात है, बहुत धैर्य बनाये रखो, वे ही चीजें दुहराते रहनेसे थक मत जाओ।

★

इस कर्ममें क्या मन कोई सहायता दे सकता है?

हां, यदि मनका कोई भाग पूर्णतः आलोकित हो, यदि वह चैत्य ज्योतिके प्रति समर्पित हो और उसे सत्यका कुछ बोध हो तो मन बहुत अधिक सहायक हो सकता है, वह ठीक ढ़गसे सभी बातोंको समझा सकता है।

एकदम आंरभसे ही आत्मसमर्पण का पूर्ण होना संभव नहीं है न ?

साधारण रूपमें नहीं। इसमें थोड़ा-बहुत समय लगता है। परंतु कभी-कभी एकाएक परिर्वतन हो जाता है। इन सब चीजोंको ब्योरेवार समझानेमें बहुत अधिक समय लगेगा। तुम शायद जानते हो कि साधना की सभी परंपराओंमें यह कहा जाता था कि मनुष्यका स्वभाव बदलनेके लिये ३५ वर्षोंकी आवश्यकता होती है ! अतएव एक क्षणमें ही इसके हो जानेकी आशा तुम्हें नहीं करनी चाहिये।

★

यदि मनुष्यका स्वभाव बदलेनेके लिये ३५ वर्षकी आवश्यकता होती है तो भला कोई अभीसे भगवान्‌के

प्रति पूर्ण समर्पण कैसे कर सकता है ?

यह कार्य तेजीसे भी हो सकता है ; सब कुछ उस पथपर निर्भर करता है जिसका अनुसरण साधक करता है। तुम्हें याद होगा, हमने एक बार तुम लोगोंसे बिल्लीके बच्चे और बन्दरके बच्चेके मनोभावकी बात कही थी। यदि तुम बिल्लीके एक आज्ञाकारी बच्चे की तरह (बिल्लीके ऐसे बच्चे भी होते हैं जो बहुत असंयत होते हैं, मैंने उन्हें देखा है) होना स्वीकार करो, एक छोटे-से विनीत बच्चेकी तरह बन जाना मंजूर करो तो यह कार्य बड़ी तेजीसे आगे बढ़ सकता है। ध्यान रखो, यह कहना बड़ा आसान है कि ''बिल्लीके बच्चेका मनोभाव ग्रहण करो,'' पर इसे करना उतना आसान नहीं है। तुम्हें यह विश्वास नहीं करना चाहिये कि बिल्लीके बच्चे-का मनोभाव ग्रहण करनेका तात्पर्य है समस्त व्यक्तिगत प्रयासका परिहार कर देना। क्योंकि तुम बिल्लीके बच्चे नहीं हो, मनुष्य बिल्लीके बच्चे नहीं हैं ! तुम्हारे अंदर ऐसे अनगिनत तत्त्व हैं जो अपने-आपपर ही विश्वास करनेके अभ्यासी हैं, जो अपना निजी काम आप करना चाहते हैं, और इन सब तत्त्वोंको संयमित करना, सब प्रकारकी परिस्थितियोंके हाथमें अपनेको छोड़ देनेसे बहुत अधिक कठिन है। यह बहुत ही कठिन है। सबसे पहले, मन-बुद्धिका वह अद्‌भुत कार्य सर्वदा बना रहता है जो देखना, अलोचना करना, विश्लेषण करना, संदेह करना, समस्या सुलझानेकी चेष्टा करना बहुत अधिक पसंद करता है, कहता है, ''आखिर यह बात ऐसी है'', ''क्या इस तरह यह कुछ और अच्छी नहीं हो सकती ? '' आदि-आदि। अतः यह चीज चलती रहती है, चलती रहती है और तब कहां होता है वह बिल्लीका बच्चा ?. . . क्योंकि बिल्लीका बच्चा तो सोचता ही नहीं ! वह इस सबसे मुक्त है और इसी कारण उसके लिये ऐसा करना बहुत आसान है !

चाहे तुम जिस किसी पथका क्यों न अनुसरण करो, व्यक्तिगत प्रयास तब-तक बराबर आवश्यक होता है जबतक कि तादात्म्यका क्षण नहीं आ जाता। उस समय सभी प्रयास फटे-पुराने लबादेकी तरह झड़ जाते हैं, तुम दूसरे व्यक्ति बन जाते हो: तुम्हारे लिये जो कुछ पहले असंभव था वह अब केवल संभव ही नहीं हो जाता बल्कि अनिवार्य बन जाता है, तुम अन्यथा कर ही नहीं सकते ।

तुम्हें सचेत, नीरव होना चाहिये, तुम्हें आंतरिक प्रेरणाकी प्रतीक्षा करनी चाहिये, बाहरी प्रतिक्रियाओंके वश कुछ नहीं करना चाहिये, तुम्हें निरंतर निमित्त रूपसे बस उसी ज्योतिसे परिचालित होना चाहिये जो ऊपरसे आती है, तुम्हें बस उसी ज्योतिकी प्रेरणाके अधीन कार्य करना चाहिये, अन्य किसी चीजके अधीन नहीं। कभी यह नहीं सोचना चाहिये, यह प्रश्न नहीं उठाना चाहिये, यह नहीं पूछना चाहिये, ''मुझे यह करना चाहिये या वह'', बल्कि - जानना, देखना, सुनना चाहिये। एक ऐसी आंतरिक निश्चयताके साथ कार्य करना चाहिये जो प्रश्न नहीं करती, संदेह नहीं करती, क्योंकि निर्णय तुम्हारे पाससें नहीं आता, वह ऊपरसे आता है। हां, यह बहुत शीघ्र भी आ सकता है अथवा तुम्हें इसके लिये शायद दीर्घकालतक प्रतीक्षा भी करनी पड़ सकती है, - यह निर्भर करता है मनुष्यकी पहलेकी तैयारीके ऊपर, अन्य बहुत-सी चीजोंपर। तबतक तुम्हें उसकी इच्छा करनी चाहिये, आग्रहपूर्वक बार-बार इच्छा करनी चाहिये और सर्वोपरि बात यह है कि कभी धैर्य अथवा साहस नहीं खोना चाहिये। अगर आवश्यकता हो तो एक ही चीज को हजार बार दुहराओ, यह समझते हुए कि शायद हजारवीं बार तुम परिणाम अवश्य उपलब्ध कर लोंगे।

❁

हम भौतिक चेतनासे बाहर कैसे निकल सकते हैं जो हमें सब समय और ऐकांतिक रूपसे भौतिक परिस्थितियोंके साथ व्यस्त रखती है ?

इसके बहुत सारे उपाय हैं। पर हम जो कुछ चाहते है वह है भौतिक चेतनाका रूपांतर, न कि उसका परित्याग। और इसलिये, ऐसी हालतमें, श्रीअरविंद ने जिस चीजको अत्यंत सीधे और अत्यंत पूर्ण साधनके रूपमें ग्राह्य बताया है वह है भगवान्‌के प्रति समर्पण – एक ऐसा समर्पण जो अधिकाधिक पूर्ण बनाया गया हो, क्रमशः जिसने भौतिक चेतना और भौतिक क्रियाओं को समाविष्ट कर लिया हो। और यदि कोई ऐसा करने में सफल हो तो भौतिक एक बाधा बनने के बदले एक सहाय बन जाता है। ''प्रसन्न, प्रबल, और सहायक आत्मदान'' से क्या तात्पर्य है ?

प्र हम जो कुछ चाहते है वह है भौतिक चेतनाका रूपांतर, न कि उसका परित्याग। और इसलिये, ऐसी हालतमें, श्रीअरविंद ने जिस चीजको अत्यंत सीधे और अत्यंत पूर्ण साधनके रूपमें ग्राह्य बताया है वह है भगवान्‌के प्रति समर्पण – एक ऐसा समर्पण जो अधिकाधिक पूर्ण बनाया गया हो, क्रमशः जिसने भौतिक चेतना और भौतिक क्रियाओं को समाविष्ट कर लिया हो। और यदि कोई ऐसा करने में सफल हो तो भौतिक एक बाधा बनने के बदले एक सहाय बन जाता है।

★

''प्रसन्न, प्रबल, और सहायक आत्मदान'' से क्या तात्पर्य है ?

तुम जानते हो कि प्रसन्न होनेका क्या मलतब है ? तुम जानते हो कि बलशाली होनेका क्या मतलब है ? तुम जानते हो कि सहायक होनेका क्या मतलब है ? हां तो, समर्पण अर्थात् भगवान्‌के प्रति आत्मदान प्रसन्न, हर्षयुक्त होना चाहिये, उल्लासके साथ किया जाना चाहिये ; उसे प्रबल होना चाहिये, हमें अपने-आपको दुर्बलता और अशक्तताके वश नहीं देना चाहिये बल्कि सक्रिय और शक्तिशाली संकल्पके साथ देना चाहिये। और फिर आत्मसमर्पणको एकदम निश्चेष्ट नहीं होना चाहिये : यह भाव नहीं होना चाहिये कि ''मैंने आत्मसमर्पण कर दिया है, मुझे जीवनमें जब इससे अधिक कुछ नहीं करना है, मुझे बस शांत-स्थिर बने रहना है, मेरा समर्पण तो ही ही गया है। '' इसे सहायक होना चाहिये, तात्पर्य, उसे सक्रिय होना चाहिये - उसे सत्ताका रूपांतर करनेका भार लेना चाहिये अथवा कोई उपयोगी कार्य करना चाहिये।

★

''रूपांतर होना चाहिये सर्वांगीण, और इसलिये जो कुछ उस रूपांतरमें बाधक है उसका त्याग भी होना चाहिये सर्वांगीण।''

वह अच्छी तरह जानी हुई बात है। केवल भावात्मक क्रियाका होना ही पर्याप्त नहीं है, उसके साथ-साथ परित्यागकी अभावात्मक क्रिया भी अवश्य होनी चाहिये। कारण, जबतक तुम अपनी सत्तामें ऐसे तत्त्वोंको आश्रय देते हो जो रूपांतरणका विरोध करते हैं, तबतक तुम स्थायी रूपांतरण नहीं सिद्ध कर

सकते। यदि तुम अपने अंदर अंधकारपूर्ण चीजोंको आश्रय प्रदान करो, वे कुछ समय नीरव और निश्चल बनी रह सकती है, इतनी अच्छी तरह रह सकती हैं कि तुम उन्हें कोई महत्त्व ही न दो, और एक दिन वे फिरसे जाग्रत् हो जायंगी और तुम्हारा रूपांतर उनका प्रतिरोध करनेमें समर्थ नहीं होगा। केवल आत्मदानकी भावात्मक क्रिया ही नहीं, बल्कि इस आत्मदानका विरोध करनेवाली अपने अंदरकी प्रत्येक चीजके परित्याग की अभावात्मक क्रिया भी आवश्यक है। तुम्हें चीजोंको ''इसी तरह'', कहींपर गड़ी हुई, इस रूपमें नहीं छोड़ देना चाहिये कि प्रथम अवसर पाते ही वे जाग पड़े और तुम्हारे सारे कार्यको व्यर्थ कर दें। सत्ताके कुछ भाग ऐसे हैं जो यह भली प्रकार जानते है कि इसे कैसे किया जाता है ; प्राणके कुछ अंश ऐसे हैं जो इस दृष्टिकोणसे असाधारण है ; वे शांत पड़े रहते हैं, एक कोनेमें छिपे रहते हैं, इतने पूर्ण रूपसे नीरव और निश्चल बने रहते हैं कि तुम समझते हो कि वे हैं ही नहीं ; अतएव तुम अब बिलकुल सावधान नहीं रहते, तुम अपने रूपांतरण और समर्पणसे संतुष्ट रहते हो, तुम समझते हो कि सब कुछ अच्छी तरह चल रहा है, और तब, अचानक, एक दिन, चेतावनी दिये बिना, वह चीज स्प्रिंगदार खिलौनकी तरह उछल पड़ती है और तुमसे सब प्रकारकी मूर्खताएं करवाती है। और दबी-दबी और एक कोनेमें जोरसे बंद - रहनेके कारण अधिक शक्तिशाली होती है, वह इस भांति बनी रही है मानों गाड़ दी गयी हो जिसमें कि वह तुम्हारा ध्यान आकर्षित न करे, वह बहुत, बहुत अधिक चुपचाप बनी रही है, और जिस क्षण तुम इस बातकी कोई आशा नहीं करते हो, वह उछल पड़ती है और तुम अपने-आपसे कहते हो, ''ओह ! मेरे समस्त रूपांतरणका आखिर क्या लाभ हुआ ?'' वह चीज बनी रही, और इसलिये ऐसा घटित हुआ। यह सब ठीक ऐसा ही होता है, ये चीजें वहां बनी रहती हैं और इतनी अच्छी तरह छिपी रहती हैं कि यदि तुम एक सुप्रकाशित दीपकके साथ उनकी खोज करने न जाओ तो तुम उस दिनतक यह नहीं जानोगे कि वे यहां हैं जिस दिन तक कि ये एक मुहूर्त्तमें तुम्हारा सारा कार्य बर्बाद कर देनेके लिये बाहर नहीं निकल आतीं।

❁

मनुष्य यह कैसे जान सकता है कि समर्पण पूर्ण है या नहीं ?

मुझे यह जानना कठिन नहीं प्रतीत होता। हम थोड़ा-सा अभ्यास करने की कोशिश कर सकते हैं। हम कर सकते हैं, ''अच्छा देखूं, मैं भगवान्‌को समर्पण करता हूं, मै चाहता हूं कि मेरे जीवनमें प्रत्येक बातका निर्णय वही करें।'' यही तुम्हारा प्रारंभ-बिंदु है। अब थोड़ा अभ्यास करें: भगवान् यह निर्णय करने जा रहे है कि अमुक-अमुक चीज घटित हो, ठीक ऐसी चीज जो तुम्हारी भावनाके विपरीत है। तब तुम अपने-आपसे कहते हो, ''बहुत अच्छा, और, यदि भगवान् मुझसे कहते हैं कि 'तुम इसे छोड़ने जा रहे हो,' '' - तुम बहुत आसानीसे, तुरंत, देखोगे कि प्रतिक्रिया होती है ; यदि वह चीज, इस भांति, तुम्हारे अंदर थोड़ी चुभती है तो तुम अपने-आपसे कह सकते हो, ''समर्पण पूर्ण नहीं '' - वह चुभती है, वह चुभती है . . . ।

मधुर मां, हम प्रसन्नतापूर्वक समर्पण कैसे कर सकते हैं ?

यह जरूरी है कि वह सच्चा हो ! अगर वह सचमुच सच्चा है, तो वह प्रसन्नतापूर्ण बन जाता है। जबतक वह न हो — तुम चीजको घुमाकर कह सकते हो — जबतक वह प्रसन्नतापूर्ण न हो, तबतक तुम निश्चित हो सकते

हो कि वह पूर्ण रूपसे सच्चा नहीं है; क्योंकि अगर वह पूर्ण रूपसे सच्चा है, तो वह हमेशा प्रसन्नतापूर्ण होगा। अगर वह प्रसन्नतापूर्ण नहीं है, तो इसका अर्थ है कि कोई चीज है जो उसे रोकती है, कोई चीज जो चाहती है कि चीजें और प्रकारसे हों, कोई ऐसी चीज जिसका अपना संकल्प है, अपनी इच्छा, अपना लक्ष्य है, और जो संतुष्ट नहीं है, फलस्वरूप, जो पूरी तरहसे समर्पित नहीं है, अपने समर्पणमें सच्ची नहीं है। लेकिन अगर समर्पणमें व्यक्ति सच्चा हो, तो वह एकदम प्रसन्न होगा, सहज रूपसे प्रसन्न ; बल्कि, वह सहज रूपमें एक ऐसे सुखको अनुभव करता है जो शब्दोंमें नहीं उतारा जा सकता। फलस्वरूप, जबतक वह अवर्णनीय सुख नहीं है, तबतक यह एक निश्चित संकेत है कि वह सच्चा नहीं है, कि कोई चीज है, उसकी सत्ताका कम या अधिक बड़ा अंश, जो सच्चा नहीं है।

★

माताजी, ''सहायक समर्पण'' का क्या अर्थ है ?

समर्पण . . . असहाय ? (हंसी) यह नहीं हो सकता। यह सहायक समर्पण है। सहायक समर्पण क्या है, यह हम सब जानते हैं, जानते हैं न ? सहायक समर्पण।

मूल पाठ कहां है ? हम असहाय समर्पण नहीं कह सकते। (हंसी) (माताजी मूलपाठमें ढूढ़ती हैं।) सहायक, वह असहाय नहीं है ! (हंसी) प्रसन्नतापूर्वक समर्पण, जैसा कि मैंने अभी-अभी बताया। शक्तिशाली, कोई कमजोर या अशक्त चीज नहीं, समझे ; शक्तिशाली, प्रभावशाली, और सहायक, यानी, जो काम करता है, जो क्रियाशील है, परिणाम लाता है, एक ऐसा समर्पण जो अपने-आपको उपयोगी बनाता है, एक ऐसा समर्पण जो, उदाहरणके लिये, काममें सहयोग, प्रगतिमें सहयोग देना चाहता है। वह अचल यंत्रसे उल्टा है, बिलकुल उल्टा।

★

मधुर मां, क्या श्रीअरविंद भगवान् और शक्तिमें भेद करते हैं ? यहां वे कहते है : ''अपने आपका और तुम जो कुछ हो, तुम्हारे पास जो कुछ है, चेतानाके हरएक स्तरका, हर एक गतिका भगवान् और शक्तिके प्रति समर्पण।''

''समर्पण'' और ''चेतनाके हर स्तरका'' अर्थ क्या है ?

इसका मतलब है भौतिक का समर्पण, प्राणका समर्पण, मनका समर्पण और चैत्यका समर्पण। और अगर तुम अपनी सत्ताके और अंशोंके प्रति सचेतन हो तो . . .। सबसे पहले तुम्हें अपनी सत्ताके अलग-अलग अंगोंमे भेद करनेसे शुरू करना चाहिये, और फिर, जब उनमें अच्छी तरह भेद करना आ जाये, तो तुम उन्हें एक-एक करके समर्पित करते हो।

★

''एक तामसिक समर्पण जो समर्पित होनेसे इनकार करना हो'' — अगर वह शर्त्ते पूरी करनेसे इनकार करे तो वह समर्पण न रहेगा, है न ?

बिलकुल। लेकिन ऐसे बहुत-से लोग हैं जो सोचते हैं कि उन्होंने समर्पण कर दिया है और वे कहते हैं : ''अब मैं खुद कुछ नहीं करता, मैं भगवान्‌के प्रति समर्पित हो चुका हूं, भगवान्‌को मेरे लिये सब कुछ करना चाहिये।'' वे इसे समर्पण कहते हैं . . .। इसका मतलब है कि यह प्रमाद और तमस्‌की क्रिया है जो प्रयास नहीं करना चाहती और चाहती है कि भगवान् तुम्हारे लिये सब कुछ कर दें, क्योंकि यह ज्यादा आरामदेह है।

❁

जब हम मानसिक प्रवृत्तियों में अथवा बुद्धि के व्यापारों में एकाग्र रहते हैं, तब कभी-कभी भगवान् को क्यों भूल जाते अथवा उनका स्पर्श क्यों गँवा देते हैं ?

तुम उसे इसलिये गँवा देते हो क्योंकि तुम्हारी चेतना अभी तक बँटी हुई है। तुम्हारे मन में भगवान् अभी तक अच्छी तरह बसे नहीं है, अभी तक तुम दिव्य जीवन पर पूर्ण रूप से न्योछावर नहीं हुए हो। नहीं तो इस प्रकार के कामों में चाहे जितने लीन क्यों न रहो, फिर भी तुम्हें यह भान रहेगा कि भगवान् तुम्हारी सहायता कर रहे हैं और तुम्हें सहारा दे रहे हैं।

अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति में, चाहे वह बौद्धिक हो या सक्रिय, तुम्हारा एकमात्र मंत्र होना चाहिये : ''स्मरण और समर्पण''। तुम जो कुछ करो वह सब भगवान् के अर्पण हो। यह तुम्हारे लिये एक उत्तम साधना बन जायेगी और अनेक मूर्खतापूर्ण और निरर्थक चीजों से तुम्हारी रक्षा करेंगी।

★

माताजी, जब आदमी अपने निजी प्रयाससे निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त करता है और जब वह माताजीके प्रति समर्पणके द्वारा प्राप्त करता है, तो क्या अनुभूतिमें कुछ फर्क होता है ?

हां, फर्क होता है। (मौन)

अगर निर्गुण ब्रह्म ही लक्ष्य होता और अगर व्यक्ति उसके साथ तादात्म होकर, निर्गुण ब्रह्मके साथ एक होकर उसीमें विलीन हो जाना चाहता तो, शायद, कोई फर्क न होता। मेरा ख्याल है कि इस हालत में कोई फर्क नहीं होगा। लेकिन अगर उससे परेकी चीजको चरितार्थ करनेकी अभीप्सा हो, जिसे श्रीअरविंद अतिमानसिक 'सद्वस्तु' कहते हैं, तो यहां फर्क होता है, केवल मार्गमें ही फर्क नहीं होता, क्योंकि वह तो बिलकुल स्पष्ट ही है (इसके अलावा, वह विभिन्न स्वभावोंपर निर्भर है), लेकिन अगर कोई सचमुच जान सके कि समर्पण और समग्र विश्वास क्या है, तो यह अनन्तगुना आसान हो जाता है, तीन-चौथाई चिन्ता और कठिनाइयां समाप्त हो जाती हैं।

अब यह सच है कि यह कहा जा सकता है कि इस समर्पणमें बहुत विशेष कठिनाई होती है। यह सच है, इसलिये मैंने कहा कि यह पूरी तरह स्वभावपर निर्भर है। लेकिन केवल यहि नहीं है। अगर तुम चाहो तो इस भेदकी तुलन किसी बिन्दुपर समाप्त होनेवाले रेखाकार पथ और गोलाकार पथसे की जा सकती है जिसका अन्त समग्रतामें होता है ; ऐसी समग्रतामें जिसमेंसे किसी भी चीजको अलग नहीं किया जायगा। हर एक, व्यक्तिगत रूपसे, 'मूल' तक अपनी सत्ताका उच्चतम रूप तक पहुँच सकता है; उसका मूल और

उसकी सत्ता का उच्चतम रूप 'अनन्त', 'शाश्वत' और 'परम' के साथ तदात्म है। इसलिये, अगर तुम इस मूलतक पहुंच जाओ, तो तुम 'परम पुरूष' तक पहुंच जाते हो। लेकिन तुम वहां एक रेखाकारमें जाते हो (मेरे शब्दोंको विशद वर्णनके रूपमें न लो, समझे, इनका उपयोग केवल अपनी बात समझानेके लिये किया जा रहा है)। यह एक रेखागत उपलब्धि है जो एक बिन्दुपर समाप्त होती है, और यह बिन्दु 'परम पुरूष' से संयुक्त होता है – जो तुम्हारी उच्चतम संभावना है। दूसरे मार्गसे ऐसी सिद्धि होती जिसे गोलाकार कह सकते हैं, क्योंकि यह शब्द ऐसी चीजका सबसे अच्छा चित्र देता हैं जो सबको समाये हुए हो, और वहां सिद्धि एक बिन्दु नहीं रहती बल्कि एक समग्रता होती है जिसमेंसे कोई चीज अलग नहीं की जाती।

मैं ''पूर्ण'' और ''अंश'' की बात नहीं कर सकती, क्योंकि अब कोई विभाजन नहीं बचा रहता। यह ऐसा नहीं होता, यह ऐसा नहीं होता। लेकिन, कह सकते हैं, उस ओर जानेका ढंग, उसका स्वरूप भिन्न होता है। यह ऐसा है जैसे हम कहें, जलकी एक बूंदके साथ पूर्ण तादात्म्य तुम्हें यह बता देगा कि सागर क्या है – और वह केवल एक सागर नहीं बल्कि सभी संभव सागरोंके साथ पूर्ण तादात्म्य करा देगा। और फिर भी एक बूंद जलके साथ पूर्ण तादात्म्यद्वारा तुम समुद्रको उसके तत्त्वमें जान सकते हो, और दूसरे तरीकेसे तुम समुद्रको केवल तत्त्वमें नहीं बल्कि उसकी समग्रतामें जान सकोगे। कुछ ऐसी ही चीज है . . . जिसे मैं समझानेकी कोशिश कर रही हूं . . . । यह बहुत कठिन है लेकिन है कुछ ऐसी ही, उसमें कुछ है, कुछ भेद है। यह कहा जा सकता है कि जब तुम अपने निजी बल-बूतेपर आश्रित होते हो, तो व्यक्ति-भाव अपनाने वाली हर चीज अपने अंदर व्यक्तित्वके गुणको बनाये रखती है और साथ ही जिन्हें हम एक अर्थमें व्यक्तित्वके लिये आवश्यक सीमाएं कह सकते हैं उन्हें भी बनाये रखती है। दूसरी अवस्थामें तुम व्यक्तित्वकी सीमाओं में आये बिना उसके गुणोंसे लाभ उठा सकते हो। यह लगभग दर्शन शास्त्र है, इसलिये यह ज्यादा स्पष्ट नहीं रहा। लेकिन (हंसते हुए) बस, मैं इतना ही कह सकती हूं।

❁

समर्पण और प्राण-पुरूष

असमर्पित प्राण-पुरूष

'प्रेम' और 'ज्ञान' ही भगवान्‌के एकमात्र पहलू नहीं हैं, उनका एक पहलू 'शक्ति' का भी है।''

(योग-समन्वय)

तुम कौन-सी बात नहीं समझ पाये ? श्रीअरविंद कहते हैं कि प्राण-भाग, प्राण पुरूष सबसे बड़ी बाधा है, क्योंकि वह पुनरूद्धार-वंचित है और उसे रूपांतरित करनेकी संभावना भी तभी होगी जब वह पूरी तरह 'प्रेम' और 'ज्ञान' को समर्पित होगा ; परंतु इसका सर्वप्रधान गुण चूंकि शक्ति, स्फूर्त्ति, बल-वीर्य है, यह सत्ताके अन्य भागोंके अधीन होना पसंद नहीं करता और यह बात उसके अधीनता स्वीकार न करनेको उचित सिद्ध करती है, क्योंकि वे गुण अपने सार-तत्त्व में उतने ही ऊंचे हैं जितने कि दूसरे गुण। यहि कारण है कि उसमें न तो वही शक्ति बनी रहती है और न वही क्षमताएं, क्योंकि वह विकसित नहीं होता, वह समर्पित

नहीं होता, और यही चीज है जो कठिनाई उत्पन्न करती है : वह अधीनता नहीं स्वीकार करता क्योंकि उसमें यह शक्ति है, और यह शक्ति व्यवहृत नहीं हो सकती क्योंकि वह समर्पित नहीं है। सो, इस कठिनाईसे कैसे बाहर निकला जाय ? यदि प्राण समर्पित हो ता यह एक बहुत शक्तिशाली सहायक होगा, अत्यंत उपयोगी होगा,वह सारी प्रक्रियाको बहुत अधिक तेजीसे आगे बढ़ायेगा। परंतु चूंकि वह अपनी निजी शक्ति-सामर्थ्यको जानता है, वह दूसरोंके अधीन होना अस्वीकार करता है ; और चूंकि यह अधीन होना स्वीकार नहीं करता, उसकी शक्ति व्यवहार्य नहीं होती। तब, क्या किया जाय ? श्रीअरविंद समस्याका वर्णन करते हैं (वह बादमें इसका समाधान करेंगे ; यदि हम पढ़ना जारी रखें तो कुछ देर बाद हमें बतायेंगे कि कैसे इस समस्या हो हल किया जा सकता है), पर वह चीज पहले बता रहे हैं जिससे हम परिस्थितिको ठीक-ठीक समझ सकें।

यदि प्राण बिना किन्हीं सुनिश्चित गुणोंके कोई मामूली सत्ता होता तो उसके अधीनता स्वीकार करनेमें कोई कठिनाई न होती, परंतु वह एकदम अनुपयोगी होता। परंतु इसके विपरीत, प्राण तो ऊर्जा और शक्ति का - सभी शक्ति-सामर्थ्योंका एक प्रकारका किला है। फिर भी सामान्यतया यह शक्ति विपथगामिनी होती है ; यह बिलकुल ही भगवान्‌की सेवामें निरत नहीं होती, यह प्राणकी अपनी तुष्टिके लिये उसकी अपनी सेवामें नियुक्त होती है। अतएव, जबतक इस तरहकी है इसका उपयोग नहीं किया जा सकता।

उसे यह समझना ही होगा कि यह ऊर्जा और शक्ति जिसे वह अपने अंदर अनुभव करता है तबतक उपयोगी नहीं बन सकती जबतक कि वह पृथ्वीपर होनेवाली संसिद्धिकी भागवत योजनाके साथ पूर्ण समस्वरता नहीं प्राप्त कर लेता। यदि वह इसे समझ जाता है, वह शांत-स्थिर हो जाता है और अपना नाम मानों सत्ताकी संपूर्णताकी सूचीमें लिखने देता है, तब वह अपनी पूरी शक्ति तथा पूरा महत्त्व प्राप्त कर लेता है। अन्यथा, निकम्मा होता है। और साधारण तौरपर, उसकी सारी क्रियाएं ऐसी क्रियाएं होती हैं जो सब चीजोंको जटिल बना देती हैं और उनकी सरलता, उनकी पवित्रता, बहुधा उनकी सुन्दरता, और उनकी प्रभावशालिता नष्ट कर देती है, क्योंकि प्राणकी क्रिया अंधी, अज्ञानपूर्ण और बहुत अहंकारपूर्ण होती है।

एक शक्तिशाली योद्धाका समर्पण

इसका अर्थ हैं रूपांतरित प्राण-पुरूष। रूपांतरित प्राण ही भगवान्‌के लिये एक योद्धा-जैसा होता है। मनुष्यका प्राण- स्तर शक्तिका क्षेत्र है और यहि प्राण-स्तर उसे युद्ध करनेके लिये, युद्ध करने और जीतनेके लिये प्रेरित करता है। इसी तत्त्वके साथ व्यवहार करना अत्यंत कठिन होता है ; क्योंकि युद्ध करनेकी यह क्षमता ही प्राण-पुरूषमें विद्रोह और स्वतंत्रताकी भावना, अपने निजी संकल्पका अनुसरण करनेकी इच्छा उत्पन्न करती है। परंतु जब प्राण समझ जाता है और रूपांतरित हो जाता है, जब वह वास्तवमें भागवत संकल्पके प्रति आत्म-समर्पण कर देता है तब उसकी युद्ध करनेकी क्षमता रूपांतरमें बाधा डालनेवाली भगवद्विरोधी शक्तियों, अंधकारकी शक्तियोंके विरूद्ध लग जाती है; और प्राणकी शक्तियां शत्रुओंको जीतनेके लिये प्रर्याप्त प्रबल होती हैं। भगवद्विरोधी शक्तियां प्राणमय जगत्‌में रहती हैं: वहींसे वे भौतिक

जगत्पर फैल जाती है। परंतु उनका अपना स्थान प्राणमय लोकमें होता है और परिवर्त्तित प्राण ही उनका सफलतापूर्वक सामना कर सकता है। परंतु यह रूपांतर बहुत कठिन है।

उच्चतर प्राण समर्पण करने में अधिक कठिनाई अनुभव नहीं करता है, क्योंकि वह मन के और कभी-कभी चैत्य पुरूष के भी प्रभावके अधीन होता है ; वह उन्हें अधिक आसानी से समझ लेता है। उसका समर्पण निम्नतर प्राण के समर्पण की अपेक्षा कम कठिन होता है, क्योंकि निम्नतर प्राण मूलतः कामनाओं तथा अंध प्रेरणाओं का गढ़ है। निम्नतर प्राण जब समर्पण करता है तो भी इसे जो कुछ करने को कहा जाता है उसे करते समय वह पूर्ण प्रसन्न नहीं रहता, वह दुःख पाता है और विद्रोह की प्रेरणा को दबाये रखता है, वह अनिच्छापूर्वक आज्ञा मानता है और सहयोग नहीं देता। जब तक वह हर्ष और सच्चे प्रेम के साथ सहयोग नहीं देता तब तक कुछ भी नहीं किया जा सकता, तब तक रूपांतर नहीं हो सकता।

आत्मसमर्पण केवल तभी सुखद होता है जब वह सच्चा होता है। अथवा हम बात को थोड़ा घुमा कर कह सकते हैं कि यदि प्राण प्रसन्न न हो तो तुम्हें यह निश्चित रूप से मान लेना चाहिए कि वह पूर्ण रूप से सच्चा नहीं है। यदि वह प्रसन्न न हो तो इसका मतलब है कि वहां कोई चीज छिपी हुई है, कोई ऐसी चीज है जो बात का अन्य रूप मे होना पसंद करती है, ऐसी चीज है जिसकी अपनी कोई इच्छा है, अपनी निजी कामना है, अपना निजी उद्देश्य है और जो संतुष्ट नहीं है, सम्पूर्ण रूप से समर्पित नहीं है, अपने समपर्ण में सच्ची नहीं है। परंतु कोई यदि अपने समपर्ण में सच्चा हो तो फिर वह अपने-आप पूर्ण रूप से प्रसन्न भी होता है : वह एक अवर्णनीय आनंद का उपभोग करता है। अतएव यदि यह अवर्णनीय आनंद न हो तो यह इस बात का चिह्न है कि वहां कोई ऐसी चीज है जिसमें सच्चाई नहीं है।

अब, यदि तुम उस अंश को खोजना चाहो तो तुम्हें अभीप्सा करनी होगी, आग्रह करना होगा, प्रकाश फैंकना होगा - यदि आवश्यक हो तो प्रार्थना करनी होगी। इसके और भी बहुतेरे तरीके हैं। प्राणका समर्पण करना सर्वदा कठिन होता है, क्योंकि विश्वव्यापी प्राणिक अज्ञानकी शक्तियां समर्पण करनेमें अनिच्छुक होती है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि प्राणमें समर्पण करनेकी कोई मौलिक अक्षमता है।

साधारण प्राण कभी समर्पण करनेके लिये इच्छुक नहीं होता। सच्चा अन्तरतम प्राण अन्य प्रकारका होता है – भगवान्के प्रति आत्मसमर्पण उसके लिये उतना ही आवश्यक होता है जितना चैत्य पुरूषके लिये।

★

प्राण-पुरूष का रूपांतरण और पूर्ण समर्पण

यदि तुम अपनी साधना में उन्नति करना चाहो तो यह आवश्यक है कि जिस आनुगत्य और समपर्ण की बात कहते हो उसे शुद्ध, सच्चा और पूर्ण बनाओ। यह तबतक नहीं किया जा सकता जबतक कि तुम अपनी अध्यात्मिक अभीप्सा के साथ अपनी कामनाओं को मिलाते रहो। यह तबतक नहीं किया जा सकता जबतक कि तुम अपने परिवार, संतान या अन्य किसी चीज या किसी अन्य मनुष्य के प्रति प्राणिक आसक्ति का पोषण करो। अगर तुम्हें यह योग करना हो तो तुम्हें बस एक ही इच्छा और अभीप्सा - आध्यात्मिक सत्य

को ग्रहण करने तथा उसे अपने समस्त विचारों, अनुभवों, क्रियाओं तथा प्रकृति के अंदर अभिव्यक्त करने की ही एक इच्छा और अभीप्सा - बनाये रखनी होगी। तुम्हें किसी व्यक्ति के साथ कोई भी संबंध स्थापित करने के लिये लालायित नहीं होना चाहिये। दूसरों के साथसाधक के संबंध उसके भीतर से, जब उसे सच्ची चेतना प्राप्त हो और वह ज्योति में रहता हो तब, उत्पन्न होने चाहियें। वे दिव्य जीवन और दिव्य कर्म के लिये क्रियाशील अतिमानसिक सत्य के अनुसार भगवती माता की शक्ति और इच्छा के द्वारा उसके अंदर निश्चित होंगे; उनका निर्णय साधक के मन तथा उसकी प्राणिक कामनाओं के द्वारा नहीं होना चाहिये। यही बात है जिसे तुम्हें याद रखना होगा। तुम्हारा चैत्य पुरूष अपने-आपको श्रीमां के हाथों में सौंप देने और सत्य में निवास करने एवं वर्द्धित होने की क्षमता रखता है; परंतु तुम्हारा निम्न प्राण-पुरूष आसक्तियों और संस्कारों तथा कामना की एक अशुद्ध क्रिया से भरपूर रहा है एवं तुम्हारा बाहरी भौतिक मन अपने अज्ञानपूर्ण विचारों और अभ्यासों को झाड़ फेंकने तथा सत्य की ओर खुलने में असमर्थ रहा है। यही कारण था कि तुम उन्नति करने में अक्षम रहे, कारण तुमने एक ऐसे तत्त्व को तथा ऐसी क्रियाओं को बनाये रखा जिन्हें बने रहने देना संभव नहीं था; क्योंकि वे ठीक उस चीज के विरूद्ध पड़ती थीं जिसे दिव्य जीवन के अंदर स्थापित करने की आवश्यकता है। श्रीमाताजी तुम्हें केवल तभी इन चीजों से मुक्त कर सकती हैं जब कि तुम वास्तव में मुक्त होना चाहो, केवल अपने चैत्य पुरूष में ही नहीं वरन् अपने भौतिक मन में तथा अपनी समस्त प्राणिक प्रकृति में भी मुक्त होना चाहो। इसका चिह्न यह होगा कि तुम तब अपनी व्यक्तिगत धारणाओं, आसक्तियों या कामनाओं का पोषण नहीं करोगे या उनके ऊपर जोर नहीं दोगे, और, चाहे तुम जितने भी दूर या जहां कहीं भी क्यों न रहो, तुम अपने-आपको खुला हुआ और श्रीमां की शक्ति एवं उपस्थिति को अपने साथ और अपने अंदर कार्य करते हुए अनुभव करोगे तथा संतुष्ट, शांत, विश्वासी बने रहोगे, और कुछ नहीं चाहोगे, सर्वदा श्रीमां की इच्छा की प्रतीक्षा करोगे।

श्रीमां को आत्मसमर्पण करनेकी आवश्यकता

अगर तुम आत्म समर्पण न करो तो फिर माताजीकी ओर खुले रहनेका काई विशेष आध्यात्मिक अर्थ नहीं है। आत्मदान या समर्पणकी मांग उन लोगोंसे की जाती है जो इस योगका अभ्यास करते है, क्योंकि सत्ताकी ओरसे बढ़ता हुआ समर्पण हुए बिना कहीं भी लक्ष्यके समीप पहुँचना एकदम असम्भव है। उनकी ओर खुले रहनेका अर्थ है अपने अंदर कार्य करनेके लिये उनकी शक्तिका आवाहन करना, और अगर तुम उस शक्तिके प्रति समर्पण नहीं करते तो इसका तात्पर्य हो जाता है अपने अन्दर उस शक्तिको एकदम कार्य न करने देना अथवा केवल इस शर्त्तपर कार्य करने देना कि वह उसी तरह कार्य करे जिस तरह कि तुम चाहते हो, अपने निजी तरीकेसे, जो कि दिव्य सत्यका तरीका है, कार्य न करे। इस तरह का सुझाव साधारणतया किसी विरोधी शक्तिके यहांसे आता है अथवा मन या प्राणके किसी अहंकारपूर्ण अंशसे आता है जो भगवात कृपा या शक्तिको चाहता तो है पर केवल इसलिये कि वह किसी अपने निजी उद्देश्यके लिये उसका उपयोग करे और यह अंश भागवत उद्देश्यके लिये जीवन यापन करनेके लिये इच्छुक नहीं होता, – जो कुछ वह ले

सके वह सब भगवान्‌से ले लेनेके लिये तो वह उत्सुक होता है, पर स्वयं अपने-आपको भगवान्‌के हाथोंमें दे देनेके लिये नहीं। अन्तरात्मा, हमारा सच्चा स्वरूप, इसके विपरीत, भगवान्‌की ओर मुड़ता है और आत्मसमर्पण करनेके लिये केवल इच्छुक ही नहीं होता बल्कि उत्सुक होता है और उससे उसे प्रसन्नता होती है। इस योगमें साधकसे प्रत्येक मानसिक आदर्शवादी संस्कृतिसे परे चले जानेकी आशा की जाती है। भावनाएं और आदर्श मनसे सम्बन्ध रखते है और वे केवल अर्द्ध-सत्य हैं, मन भी, बहुत बार, एक आदर्श बना लेनेसे ही सन्तुष्ट रहता है, आदर्शवादिताके सुखमें डूबा रहता है, और जीवन ज्यों-का-त्यों, अरूपान्तरित अवस्थामें पड़ा रहता है अथवा केवल थोड़ासा और वह भी ऊपरसे देखनेमें ही परिवर्तित होता है। अध्यात्मका साधक उपलब्धिकी चेष्टासे विरत होकर केवल आदर्श बनानेमें ही नहीं लग जाता ; आदर्श बनाना नहीं, बल्कि दिव्य सत्यको उपलब्ध करना ही उसका लक्ष्य होता है, चाहे जीवनसे परे जाकर या जीवनमें ही रहते हुए, और इस अवस्थामें यह आवश्यक है कि मन और प्राणको रूपान्तरित किया जाय और यह रूपान्त्र भागवती शक्ति, श्रीमांके कार्यके प्रति आत्मसमर्पण किये बिना नहीं हो सकता। निर्वैयक्तिककी खोज करना उन लोगोंका पथ है जो जीवनसे अलग होना चाहते हैं, पर साधारणतया वे चेष्टा करते हैं अपने निजी प्रयासके बलपर, वे किसी श्रेष्ठतर शक्तिकी ओर अपने-आपको खोलकर या आत्मसमर्पणके पथसे नहीं चलते ; क्योंकि, निराकार ऐसी चीज नहीं है जो पथ दिखाती या सहायता करती हो, बल्कि वह ऐसी चीज है जो प्राप्त की जाती है और वह प्रत्येक मनुष्यको अपनी प्रकृतिके पथ और क्षमताके अनुसार उसे प्राप्त करनेके लिये छोड़ देती है। दूसरी ओर, श्रीमांकी ओर अपनेको खोलकर और उन्हें आत्मसमर्पण करके मनुष्य निराकारको भी प्राप्त कर सकता है और सत्यके दूसरे सभी रूपोंको भी।

अवश्य ही आत्मसमर्पण क्रमोन्नतिशील होना चाहिये। कोई भी आदमी आरम्भसे ही पूर्ण आत्मसमर्पण नहीं कर सकता, इसलिये यह बिलकुल स्वाभाविक है कि जब मनुष्य अपने भीतर की ओर ताकता है तो उसका अभाव ही पाता है। पर यह कोई कारण नहीं कि आत्मसमर्पण का सिद्धान्त ही न स्वीकार किया जाय और धीर-स्थिर रूपसे एक-एक स्तर, एक-एक क्षेत्रमें, क्रमशः प्रकृति के सभी अंगोमें उसे प्रयुक्त करते हुए, उसे जीवनमें न उतारा जाय।

अवतरण के खतरों से बचने का उपाय

ऊपरसे होनेवाले अवतरण तथा उसे क्रियान्वित करनेकी इस प्रक्रियामें सबसे प्रधान बात है स्वयं अपने ऊपर पूर्ण रूपसे निर्भर न करना, बल्कि गुरूके पथ दर्शनपर निर्भर करना और जो कुछ घटित हो उसपर विचार करने, मत देने और निर्णय करनेके लिये उन्हें बतलाना। क्योंकि प्रायः ही ऐसी होता है कि अवतरणके कारण निम्नतर प्रकृतिकी शक्तियां जागृत और उत्तेजित हो जाती है और उसके साथ मिल जाना तथा उसे अपने लिये उपयोगी बनाना चाहती है। प्रायः ही ऐसा होता है कि स्वभावतः अदिव्य कोई शक्ति या कई शक्तियां परमेश्वर या भागवती माताके रूपमें सामने प्रकट होती है और हमारी सत्तासे सेवा और समर्पणकी मांग करती है। अगर इन्हें स्वीकार किया जाय तो इसका अत्यन्त सर्वनाशी परिणाम होगा। अवश्य ही, यदि

साधक केवल भागवत क्रिया की अवस्थातक ऊपर उठा हुआ हो और उसी पथप्रदर्शनके प्रति उसने आत्मदान और समर्पण किया हो तो सब कार्य आसानीसे चल सकता है। साधक का यह आरोहण तथा समस्त अहंकारपूर्ण शक्तियों या अहंकारको अच्छी लगनेवाली शक्तियोंका त्याग पूरी साधनाके भीतर हमारी रक्षा करता है। परन्तु प्रकृतिके रास्ते जालोंसे भरे पड़े हैं, अहंकारके छद्मवेश असंख्य हैं, अन्धकारकी शक्तियों की माया - राक्षसी माया - असाधारण चातुरीसे भरी है ; हमारी बुद्धि अयोग्य पथप्रदर्शक है और प्रायः ही विश्वासघात करती है ; प्राणगत कामना सदा हमारे साथ रहकर हमें किसी आकर्षक पुकारका अनुसरण करनेका लोभ देती रहती है। यही कारण है कि इस योगमें हम बराबर ही समर्पणपर इतना अधिक जोर देते हैं। अगर हृदय-केन्द्र पूरा खुला हो और चैत्य पुरूषका प्रभुत्व बराबर बना रहे तो फिर कोई प्रश्न ही नहीं ; सब सुरक्षित ही होता है। परन्तु निम्नतर चीजोंके ऊपर उठ आनेसे चैत्य पुरूष किसी भी क्षण ढका जा सकता है। सिर्फ थोड़ेसे लोग ही इन खतरोंसे मुक्त होते हैं और निश्चित रूपसे वे ही लोग ऐसे होते है जिनके लिये समर्पण करना आसान होता है। जो व्यक्ति तादात्मयके द्वारा स्वयं भगवान् हो गया है या भगवान्का प्रतिनिधित्व करता है, उसका पथप्रदर्शन इस कठिन प्रयासके लिये अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य है।

आवश्यक प्रयास

साधकसे जो प्रयास करनेकी मांग की जाती है वह है अभीप्सा, त्याग और आत्मसमर्पण। अगर ये तीनों चीजें की जायंतो फिर बाकी चीजें श्रीमांकी कृपासे और तुम्हारे अन्दर उनकी शक्तिकी क्रियाके कारण अपने-आप ही आयेंगी। परन्तु इन तीनोंमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है आत्मसमर्पण और उसको प्रथम आवश्यक स्वरूप है कठिनाईके समय विश्वास, भरोसा और धैर्य। यह कोई नियम नहीं है कि विश्वास और भरोसा केवल तभी रह सकते है जब कि अभीप्सा भी हो। बल्कि उसके विपरीत, जब कि तामसिकताके दबावके कारण अभीप्सा नहीं होती तब भी विश्वास, भरोसा और धैर्य विद्यमान रह सकते है। यदि अभीप्साके प्रसुप्त रहनेपर विश्वास और धैर्य साथ छोड़ दें तब उसका मतलब यह होगा कि साधक एकमात्र अपने निजी प्रयासपर ही निर्भर करता है – उसका अर्थ होगा – ''ओह, मेरी अभीप्सा असफल हो गयी है, इसलिये अब मेरे लिये कोई आशा नहीं। मेरी अभीप्सा असफल हो रही है, इसलिये भला माताजी भी क्या कर सकती हैं ?'' पर, इसके विपरीत, साधकका भाव यह होना चाहिये, ''कोई बात नहीं, मेरी अभीप्सा फिरसे वापस आयेगी। इस बीच, मैं जानता हूँ कि जब मैं श्रीमांको अनुभव नहीं करता तब भी वे मेरे साथ हैं ; वे मुझे अन्धकारमय घड़ियोंसे भी पार करेंगी।'' यही पूर्णतः यथार्थ भाव है जिसे तुम्हें अवश्य बनाये रखना चाहिये। जिनमें यह भाव होता है, अवसाद उनका कुछ भी नहीं कर सकता ; अगर अवसाद आता भी है तो उसे किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर वापस लौट जाना पड़ता है। यह चीज तामसिक आत्मसमर्पण नहीं है। तामसिक समर्पण तो उसे कहते है जब मनुष्य कहता है कि ''मैं कुछ भी नहीं करूँगा ; श्रीमां सब कुछ कर दें। अभीप्सा, त्याग और आत्मसमर्पण भी आवश्यक नहीं हैं। माताजी ही मेरे अन्दर यह सब कर दें।'' इन दोनों भावोंमें बहुत बड़ा अन्तर है। एक भाव तो है उस पीछे हटनेवालेका जो कुछ भी नहीं करना चाहता और दूसरा है उस साधकका जो अपनी शक्ति भर

प्रयास करता है, पर जब वह कुछ समयके लिये अकर्मण्यता में जा गिरता है और चीजें विपरीत हो जाती हैं तब भी वह सब चीजोंके पीछे विद्यमान श्रीमांकी शक्ति और उपस्थितिमें अपना विश्वास बराबर बनाये रखता है और उस विश्वसाके द्वारा विरोधी शक्तिको चकमेंमें डाल देता है और साधना की क्रियाको फिर वापस ले आता है।

मनोवैज्ञानिक परिपूर्णताएं

श्रीमाताजी अपने हाथमें सफेद चम्पा पुष्प

लिये हैं और उसे दिखा रही है। उस फूल

का नाम ''आंतरिक परिपूर्णता'' रखा गया है।

किसको याद है ?

(उसके दलोंको गिनते हुए) एक, दो, तीन, चार, पांच आंतरिक (मनोविज्ञानिक) परिपूर्णताएं हैं। ये पांच आंतरिक परिपूर्णताएं कौन-कौन सी हैं ?

श्रद्धा, सच्चाई, अभीप्सा, भक्ति, समर्पण।

.... और अब आता है समर्पण, अंग्रेजीमें शब्द है ''सरेण्डर'' (Surrender), फ्रेंच भाषामें कोई शब्द नहीं, जो ठीक-ठीक वही अर्थ प्रदान करता हो। परंतु श्रीअरविंदने कहा है (मैं समझती हूं कि हमने इसे पढ़ा है) कि योग करनेके लिये समर्पण सबसे पहली और चरम शर्त है। अतएव, उन्होंने जो कुछ कहा है उसका यदि हम अनुसरण करें तो यह ठीक कोई एक आवश्यक गुण नहीं है : यह तो योग आरंभ करनेकी सबसे पहली अनिवार्य स्थिति है। यदि किसीने संपूर्ण रूपसे समर्पण करनेका निश्चय नहीं किया है तो प्रारंभ नहीं कर सकता।

परंतु इस समर्पणको सर्वांगपूर्ण बनानेके लिये ये सभी गुण आवश्यक हैं। और मैं एक और जोड़ रही हूं (क्योंकि अभीतक हमने केवल उनमेंसे चारकी ही चर्चा की है), मैं सहिष्णुताको जोड़ रही हूं। कारण, यदि तुम हतोत्साह हुए बिना और प्रयास छोड़े बिना, क्योंकि वह अत्यंत कठिन है, कठिनाइयोंका सामना करनेमें समर्थ नहीं हो ; और यदि तुम असमर्थ . . . हां, आघातोंको ग्रहण करने और फिर भी प्रयास जारी रखनेमें, उन्हें (आघातोंको) जैसा कहा जाता है ''पी जाने'' में – अपने दोषोंके फलस्वरूप जब आघात पाते हो, उन्हें पी जाने और निरूसाह हुए बिना आगे बढ़ना जारी रखनेमें असमर्थ होते हो, तो तुम बहुत दूरतक आगे नहीं जाते ; प्रथम मोड़पर ही जहां तुच्छ अभ्यस्त जीवन आंखसे ओझल हो जाता है, तुम निराशामें जा गिरते हो और प्रयास छोड़ देते हो।

इसका रूप . . . कैसे इसे कहा जाय ? इसका अत्यंत स्थूल रूप है अध्यवसाय।

अतएव, यहां मेरा प्रस्ताव है : हम समर्पणको रखते है सबसे पहले, सबसे ऊपर, अर्थात्, हम श्रीअरविन्दकी

कही हुई बात स्वीकार करते हैं कि, पूर्णयोग की साधना करनेके लिये व्यक्तिको सबसे पहले भगवान्के प्रति पूर्ण रूपसे समर्पण करनेका संकल्प करना चाहिये, दूसरा कोई पथ नहीं है, यही है 'एकमात्र पथ'। परंतु उसके बाद मनुष्यके अंदर ये पांच आंतरिक गुण, पांच आंतरिक परिपूर्णताएं अवश्य होनी चाहिये और हम कहते है कि ये परिपूर्णताएं है :

सच्चाई या पारदर्शकता

श्रद्धा या विश्वास (स्वभावतः भगवान्में विश्वास)

भक्ति या कृतज्ञता

साहस या अभीप्सा

सहिष्णुता या अध्यवसाय

सहिष्णुताका एक रूप है 'एकनिष्ठता'। अपने संकल्पके प्रति वफादारी, विश्वासपात्र बनना। तुमने एक संकल्प किया है, तुम अपने संकल्पके प्रति वफादार बने रहते हो। यही है सहिष्णुता। बस, इतना ही।

यदि तुम डटे रहते हो तो फिर एक क्षण ऐसा आता है जब तुम विजय प्राप्त कर लेते हो।

विजय उसीकी होती हैं जो सतत प्रयत्नशील होता है।

सावित्री

अनन्त महाकाल में यह एक बीज रोपित हो गया।

ऐसे क्षण में एक में एक शब्दब्रह्म उच्चारित होता है, एक दैवी प्रकाश दिखायी देता है,

युगों द्वारा जिसे व्यक्त करने का श्रम चलता है, वह मुहूर्त दिख जाता है।

ऐसे में उस कालातीत से कौंधते उछलते लोक उत्पन्न हो जाते हैं;

वर्षों का कारण (जन्मदाता) एक शाश्वत पल ही होता है।

योगी ने तो मात्र एक क्षेत्र तैयार किया था :

अब उसके लघु आरम्भों ने एक सामर्थ्यशाली अंत मांगा :

क्योंकि अबतक वह जो सब था उसको एक नव-रूप लेना होगा

अपने अंतर को भगवती को आनन्द धाम बनाना होगा,

उसकी सुषमा और महत्ता को निज जीवन में बसाना होगा।

किंतु अभी तो उसकी सत्ता अपने व्यक्तित्व हित अति विस्तृत थी

उसके हृदय की याचना असीम हो फैल गयी थीः

अपनी अकेली मुक्ति अब उसे संतोष नहीं दे सकी,
परमा-ज्योति को और उसके आनंद को,
अब उसने धरा और मानव हित मांगा।
किंतु मानवीय बल और मानवीय प्रेम निष्फल रहे
धरती पर लगी इस अंध-अज्ञान और मृत्यु को मुद्रा तोड़ने में,
मानव स्वभाव की सामर्थ्य अब एक शिशु की मुट्ठी सम लगती है ;
जिसके फैले हुए हाथों की पकड़ के लिये स्वर्ग अति उच्च है।
यह पराज्योति संघर्ष से या विचार द्वारा ग्रहण नहीं की जाती;
इस मानस की नीरव शांति में परात्परता कार्य करती
और हृदय के मौन में अनुच्चारित परम-नाद सुनायी देता है।
केवल एक प्रशस्त समर्पण ही अब उसकी एकमात्र शक्ति थी।
एक परम सामर्थ्य जो उच्चताओं पर बसती है
उसे कर्म-क्षेत्र में आना होगा,
जीवन के अवरूद्ध कक्ष में अमर श्वास को लाना होगा
और इस अनित्य नश्वरता हो नित्य अमरत्व से भरना होगा।
जो इसका निषेध करेगा उस समस्त को भंग कर मिटा देना होगा
और उन अनके वासनाओं को कुचल देना होगा
जिनके कारण हम उस परमैकम् को खो देते हैं
जिसके लिये हमने जीवन धारा था।
अब योगी के अंतर में अन्य दावों को कोलाहल चीत्कार शांत था :
वह तो निज हृदय और मन और इस श्वासित काया में
केवल परमेश्वरी का सान्निध्य और शक्ति पाने को आतुर था;
वह तो केवल उसे सतत नीचे उतार लाने को लालायित था
इस शोक संतप्त संसार के अंधकार में उसके
प्रेम और सत्य एवं आनंद के प्राणदायी स्पर्श का वह अभिलाषी।
उसकी अंतरात्मा अब मुक्त हो केवल माता को समर्पित थी।

१६ दिसंबर १९१३

शुद्ध और निस्स्वार्थ प्रेम - तेरा प्रेम जहांतक हम उसे देख या अभिव्यक्त कर सकते हैं - वह एकमात्र चाबी है जो तुझे खोजनेवाले हृदयों को खोल सकती है। जो बुद्धि के मार्ग का अनुसरण करते हैं वेबहुत उच्च और सत्य धारणा बना सकते हैं, उन्हें सच्चे जीवन की पूरी जानकारी हो सकती है, ऐसे जीवन की जो तेरे साथ एक है लेकिन वे उसे जानते नहीं, उन्हें उस जीवन को काई आंतरिक अनुभव नहीं होता, वे तेरे साथ समस्त संपर्क से अनभिज्ञ होते हैं। और जिनमें बौद्धिक ज्ञान होता है, जिन्होंने अपने-आपको एक ऐसी रचना में कर्म के लिये बंद कर रखा है जो उन्हें सर्वोत्तम प्रतीत होती है, उन्हें बदलना सबसे अधिक कठिन होता है ; और किसी भी सद्‌भावनावाले व्यक्ति की अपेक्षा उनमें भागवत चेतना हो जगाना सबसे अधिक कठिन होता है। केवल प्रेम ही यह चमत्कार सिद्ध कर सकता है क्योंकि प्रेम सभी दरवाजों को खोलता, सभी दीवारों को भेदता और सभी बाधाओं को पार कर जाता है और जरा-सा सच्चा प्रेम सुंदरतम भाषणों की अपेक्षा अधिक कर सकता है।

हे प्रभो, वर दे कि मेरे अंदर सच्चे प्रेम का यह फूल खिले ताकि जो भी मेरे नजदीक आयें वे सब सुगंधित हो उठें और इसकी सुगंध उन्हें पवित्र बनाये।

इस प्रेम में शांति और आनंद पाये जाते हैं जो समस्त बल और उपलब्धि के स्त्रोत हैं। यह अचूक चिकित्सक, परम सान्त्वना देनेवाला है ; यह विजयी और परम गुरू है।

हे प्रभो, मेरे मधुर स्वामी, जिसकी मैं मौन होकर आराधना करती हूं , जिसे मैं पूरी तरह समर्पित हूं, जो मेरे जीवन पर शासन करता है, अपने शुद्ध प्रेम से मेरे हृदय को प्रज्ज्वलित कर ताकि वह उस वलंत वेदी की तरह प्रज्ज्वलित हो जो सभी अपूर्णताओं को भस्म कर दे, जो अहंकार के मृत काष्ठ और अज्ञान के काले कोयले को सुखद ऊष्मा और कांतिमय प्रकाश में बदल दे।

प्रभो, मैं तेरी ओर आनंदमय और साथ ही गंभीर भक्ति के साथ मुड़ती हूं और तुझसे अनुनय करती हूं : वर दे कि तेरा प्रेम अभिव्यक्त हो, वर दे कि तेरा राज्य आये।

वर दे कि तेरी शांति जगत् पर राज्य करे।

२२ जुलाई १९१४

हे प्रभो, तू समस्त प्रेम है और तेरे प्रेम का प्रकाश सभी विचारों और हर एक हृदय के अंदर गहराई में है। अपने रूपां-तर का कार्य संपन्न कर : हमें आलोकित कर। जो दरवाजे अभीतक बंद हैं उन्हें खोल, क्षितिज को विस्तृत कर, शक्तिको प्रतिष्ठित कर, हमारे सत्ताओं को एक कर और ऐसा कर कि हम तेरे दिव्य परम आनंद में भाग ले सके और हम सभी मनुष्यों को उसमें साझीदार बना सकें। वर दे कि हम अंतिम बाधाओं को, बाहरी और भीतरी बाधाओं को, जीत सकें और अंतिम कठिनाइयों पर विजय पा सकें। तेरी ओर उठनेवाली उत्साह-भरी और सच्ची प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं जाती ; तू अपनी उदारता में हर पुकार का उत्तर

देता है और तेरी दया अनंत है।

हे दिव्य स्वामी, ऐसी दया कर कि तेरा प्रकाश इस अस्त-व्यस्तता पर पड़े और तू उसमें से एक नये जगत् को प्रकट कर। अभी जिसकी तैयारी हो रही है उसे चरितार्थ कर और एक नयी मानवता का सृजन कर जो तेरे नूतन और उत्कष्ट विधान की पूर्ण अभिव्यक्ति हो। कोई चीज हमारी प्रेरणा को नहीं रोक सकती, कोई चीज हमारे प्रयास को नहीं थका सकती, अपनी सभी आशाओं और अपने सभी क्रिया-कलापों को तेरे भरोसे रखकर, परमोच्च इच्छा के प्रति अपने पूर्ण समर्पण को मजबूत किये हुए हम तेरी संपूर्ण अभिव्यक्ति की विजय के लिये इस शांत निश्चिति के साथ कूच करते हैं कि जो कुछ उसका विरोध करेगा उस पर विजय प्राप्त होगी। हे जगत् के स्वामी, जो समस्त अंधकार पर विजय प्राप्त करता है, तेरा अभिवादन।

१२ जुलाई १९१८

अचानक, तेरे आगे मेरा सारा घमंड झड़ गया। मैं समझ गयी कि तेरी उपस्थिति में अपने-आप पर विजय पाने की कोशिश करना कितना व्यर्थ है, और मैं रो पड़ी, बहुत अधिक रोई और बिना रूके अपने जीवन के मधुरतम आंसू रोई. . . । हां, वे आंसू कैसे स्फूर्तिदायक, अचंचल और मधुर थे जिन्हें मैंने बिना लज्जा या संयम के तेरे आगे बहाया! क्या यह पिता की बांहों में बालक की तरह न था? लेकिन पिता भी कैसा! कैसी भव्यता और समझ की कैसी विशालता! और प्रत्युत्तर में कैसी शक्ति और बहुलता! हां, मेरे आंसू पवित्र ओस की तरह थे। क्या यह इसलिये था कि मैं स्वयं अपने दुःख के लिये नहीं रोई थी? मधुर और परोपकारी आंसू, ऐसे आंसू जिन्होंने बिना किसी बाधा के मेरे हृदय को तेरे आगे खोल दिया और एक चमत्कारिक क्षण में मुझे तुझसे अलग करनेवाली अवशिष्ट सभी विघ्न-बाधाओं को विलीन कर दिया।

कुछ दिन पहले मैंने उसे जाना था, मैंने सुना था : ''अगर तू बिना छिपाये और बिना रोके मेरे आगे रो सके तो बहुत-सी चीजें बदल जायेंगी, एक बहुत बड़ी विजय प्राप्त होगी।'' इसी कारण जब मेरे हृदय से आंसू आंखो की ओर उठे तो मैं आकर तेरे आगे बैठ गयी ताकि वे भक्ति-भाव से भेंट के रूप में प्रवाहित हो सकें। और वह उत्सर्ग कितनामधुर और कितना विश्रामदायक था!

और अब जब कि मैं रो नहीं रही, मैं तेरे इतना निकट, इतना निकट अनुभव करती हूं कि मुझे खुशी से रोमांच हो रहा है। तुतलाते हुए मुझे अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने दे :

मैं एक छोटे बच्चे के आंनद के साथ भी पुकार चुकी हूं, ''हे परम और एकमात्र विश्वस्त सहचर, तू जो पहले से ही वह सब जानता है जो हम तुझसे कह सकते हैं क्योंकि तू ही तो उसका स्त्रोत है!

'' हे परम और एकमात्र सखा, तू जो हमें स्वीकार करता है, हमसे प्रेम करता है और हमें वैसा ही समझता है जैसे कि हम हैं क्योंकि स्वयं तूने ही तो हमें ऐसा बनाया है!

हे परम और एकमात्र पथ-प्रदर्शक, तू जो कभी हमारी उच्चतम इच्छा का प्रतिवाद नहीं करता क्योंकि उसके अंदर तू ही तो इच्छा करता है!

तेरे सिवा कहीं और किसी ऐसे को ढूंढ़ना मूर्खता होगी जो हमारी बात सुने, समझे, हमसे प्रेम करे

और हमें मार्ग दिखाये, क्योंकि तू हमेशा हमारे आह्वान पर तैयार रहता है और हमें कभी धोखा नहीं देता!

तूने मुझे पूर्ण निर्भरता के, पूर्ण संरक्षण के, बिना कुछ बचाये और बिना कोई रंग चढ़ाये, बिना किसी प्रयास या अवरोध के, सर्वांगीण रूप से समर्पण करने के सर्वोपरि आनंद का, महान् आनंद का बोध प्रदान किया है। बच्चे की तरह आनंद के साथ मैं एक ही साथ तेरे आगे रोयी और हंसी, हे मेरे परम प्रिय!'

स्वतत्रंता और समर्पण

असाधारण चीज यह है: जब तुम भगवान्के प्रति पूरी तरह समर्पित होते हो तभी तुम पूरी तरह स्वतंत्र होते हो, और स्वतंत्र होनेकी यही परम अवस्था है, केवल भगवान्का ही होना ; तुम संपूर्ण विश्वसे मुक्त होते हो क्योंकि तुम केवल उन्हींके होते हो। और यह समर्पण उच्चतम मुक्ति है, तुम अपने तुच्छ व्यक्तिगत अहंसे भी मुक्त हो जाते हो और सभी चीजोंमें यह सबसे अधिक कठिन है - और सबसे अधिक सुखद भी, यही एक मात्र वस्तु है जो तुम्हें सतत शांति, अविच्छिन्न आनन्द दे सकती हैं। जो तुम्हें कष्ट पहुंचाती, तुम्हें बौना बना देती हैं, तुम्हारा ह्रास करती हैं, तुम्हें निर्बल बनाती हैं, और जो चीजें तुम्हारे अन्दर जरा भी व्याकुलता, जरा भी भय उत्पन्न कर सकती हैं, उन सभीसे यह अनन्त मुक्तिका बोध कराती है। फिर तुम किसी चीजसे नहीं डरते , तुम किसी चीजसे भय नहीं खाते, किसी चीज से नहीं। तुम अपनी नियतिके परम स्वामी हो क्योंकि भगवान् ही तुम्हारे अन्दर इच्छा करते हैं और वही वे ही हर चीजका पथ-प्रदर्शन करते हैं। लेकिन यह रातोंरात नहीं हो जाता : इसके लिये जरा से समय और संकल्पमें बहुत-से उत्साहकी जरूरत होती है, प्रयास करते हुए भय न हो और सफल न होने पर हिम्मत न हारो, यह जानो कि विजय निश्चित है और उसके आने तक तुम्हें डटे रहना चाहिये। लो, बस ।

एकमात्र तरीका

देखो, जगत् ही वर्तमान अवस्था में परिस्थितियाँ हमेशा कठिन रही हैं। सारा संसार कलह और संघर्षकी स्थिति में है – अभिव्यक्त होने ही इच्छुक सत्य और प्रकाश की शक्तियों और उन सबके बीच संघर्ष जो बदलना नहीं चाहता, जो ऐसे भूतकाल का प्रतिनिधि है जो स्थिर और कठोर है, जो जाने से इंकार करता है। स्वभावत: हर व्यक्ति अपनी कठिनाइयों का अनुभव करता है और उसे उन्हीं बाधाओं का सामना करना पड़ता है।

तुम्हारे लिये बस एक ही रास्ता है। वह है पूर्ण, समग्र और बिना शर्त का समर्पण। इससे मेरा मतलब है न केवल अपनी क्रियाओं, कर्म, महत्त्वाकांक्षाओं को छोड़ देना बल्कि अपने सभी भावों को भी छोड़ देना, यानी तुम जो करते हो, तुम जो हो वह सब ऐकांतिक रूप से भगवान् के लिये हो। तब तुम अपने-आपको मानव प्रतिक्रिया के घेरे से ऊपर अनुभव करते हो – केवल उनसे उपर नही बल्कि भागवत कृपा की दीवार द्वारा उनसे सुरक्षित रहते हो। एक बार तुम्हारे अंदर कामनाएं न रहें, आसक्तियाँ न रहें, एक बार तुम मानव

सत्ताओं से – चाहे वे कोई भी क्यों न हों – पारितोषिक पाने की समस्त आवश्यकता को त्याग दो – यह जानो कि एकमात्र पाने योग्य पारितोषिक वह है जो परम प्रभु से आता है और जो कभी निराश नही करता - एक बार तुम सभी बाहरी सताओं और चीजो की आसक्ति छोड़ दो, तो तुम तुरंत अपने हृदय में उस परम उपस्थिति, उस परम शक्ति, उस परम कृपा का अनुभव करते हो जो हमेशा तुम्हारे साथ होती है।

कोई और उपचार नहीं है। बिना अपवाद **हर एक** के लिये यही एकमात्र उपचार है। वे सभी जो पीड़ित हैं, उनसे यही एक बात कहनी चाहिये : समस्त दुःख इस बात का सूचक है कि समर्पण समग्र नहीं है। तो जब तुम अपने अंदर इस तरह के ''प्रहार'' का अनुभव करो तो यह कहने की बजाय, ''ओह, यह खराब है'' या ''यह कठिन परिस्थिति है'', तुम यह कहो, ''मेरा समर्पण पूर्ण नहीं है।'' तो ठीक है। और फिर तुम उस परम कृपा का अनुभव करोगे जो तुम्हारी सहायता करती है, जो तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करती है और तुम आगे बढ़ते चले जाते हो और फिर एक दिन तुम उस शांति में उभर आते हो जिसे कुछ भी विचलित नहीं कर सकता। तुम सभी प्रतिरोधी गतिविधियों, प्रहारों, गलतफ़हमियों, दुर्भावनाओं का उत्तर उसी मुस्कान के साथ देते हो जो भागवत कृपा में पूर्ण विश्वास से आती है। और बचने का यही एकमात्र तरीका है, कोई दूसरा नहीं है।